दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९५ तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष २५ अंक नं० ६

देखा आतमरामा

[पद]

मैं देखा आतमरामा.....

रूप फरस रस गंधतैं न्यारा, दरस-ज्ञान गुनधामा।
नित्य निरंजन, जाकै नाहीं, क्रोध लोभ मद कामा ॥मैं० ॥

भूख प्यास सुख-दुःख नहीं जाके, नाहीं वन पुर गामा।
नहिं साहिब नहिं चाकर भाई, नहीं तात नहिं मामा ॥मैं० ॥

भूलि अनादि थकी जग भटकत, लै पुद्गल का जामा।
'बुधजन' संगति जिनगुरु की तैं, मैं पाया मुझ ठामा ॥मैं० ॥

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

अक्टूबर १९६९ वार्षिक मूल्य ३) रुपये (२९४) एक अंक २५ पैसा [भाद्रपद २४९५

जिनागम की प्रतिष्ठा

एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा की अनुभूति करना, वह जिनशासन का सार है; ऐसी अनुभूति करनेवाले ने आत्ममंदिर में भावश्रुत की प्रतिष्ठा की है... और ऐसी अनुभूति के निमित्तरूप समयसारादि जिनागम की प्रतिष्ठा भी पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रताप से भारत में जगह-जगह हो रही है। गत भाद्रपद शुक्ला दूज को सोनगढ़ में एक भव्य विशाल जिनागम मंदिर के निर्माण हेतु शिलान्यासविधि अत्यंत उल्लासपूर्ण वातावरण में उत्साहपूर्वक हुई। उस प्रसंग के प्रवचन में पूज्य स्वामीजी ने परमागमों की तथा उनके प्रणेता वीतरागी संतों की परम महिमा करते हुए कहा कि—परमागम का हार्द शुद्धात्मा का अनुभव है। ऐसे अनुभव द्वारा इस संसार के सुलगते हुए दावानल से छूटकर जब ज्ञानचेतनारूप हों और शांतरस के वेदन में आत्मा को सराबोर करें, तब परमागम के सम्यक् अभ्यास का फल प्राप्त हो... और तभी भावश्रुत तथा द्रव्यश्रुत की अपूर्व संधिपूर्वक आत्मा में से भक्ति की ध्वनि गूँज उठेगी कि—

महिमा है अगम जिनागम की....
जाहि सुनत जड़ भिन्न पिछानी,
हम चिन्मूरति आतम की... महिमा है० ॥

श्रुत प्रतिष्ठा के इस मंगल अवसर पर स्मरण होता है—

- विपुलाचल पर दिव्यध्वनि की वर्षा करनेवाले महावीर भगवान का...
- स्मरण होता है—विदेहक्षेत्र में जाकर साक्षात् तीर्थंकरदेव के दर्शन करनेवाले उन संत का...
- स्मरण होता है—'वंदित्तु सव्वसिद्धे' पूर्वक समयसारादि जिनागमों की रचना करनेवाले उन संत का...
- स्मरण होता है—दिव्यध्वनि के प्रवाह को अच्छिन्न रखनेवाले उन गिरनारवासी संतों का...
- स्मरण होता है—भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा करनेवाले उन रत्नत्रयधारी संतों का...
- स्मरण होता है—जिनके मुखकमल से परमागमरूपी अमृत झरता है ऐसे मुनिराज का...
- स्मरण होता है—पावन संस्मरणों द्वारा भरतक्षेत्र में दिव्यध्वनि को ताजा करनेवाले संतों का...
- और स्मरण होता है—जिसकी अचिंत्य महिमा जिनवाणी के प्रत्येक शब्द में भरी है ऐसे शुद्ध आत्मवैभव का।

—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

अक्टूबर : १९६९ ☆ भाद्रपद, वीर नि०सं० २४९५, वर्ष २५ वाँ ☆ अंक : ६

मोक्ष का साधन

आत्मा का सहज ज्ञानस्वभाव है, वह परिपूर्ण है। उसे न जानने से जीव अज्ञानी है। पर को नहीं जानता, इसलिये अज्ञानी है—ऐसा नहीं कहा, परंतु सर्व को जानने के सामर्थ्यवाला जो अपना सर्वज्ञस्वभाव, उसे नहीं जानता; इसलिये अज्ञानी है। सर्वज्ञस्वभाव को जाननेवाले-अनुभव करनेवाले संत पुण्य-पापरूप अपराधरहित ऐसे मोक्षमार्ग को साधते हैं। शुभ या अशुभ दोनों भाव कषाय हैं, अपराध हैं, वह मोक्षमार्ग का साधन नहीं है। मोक्षमार्ग में ज्ञानी को शुभराग होता है परंतु वह अपराध है, वह कोई गुण नहीं है; गुण तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है; वह रत्नत्रय ही मोक्ष का साधन है।

सम्यग्दर्शन इस प्रकार होता है....

[श्री समयसार गाथा १४४ के प्रवचन में से]

सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करनेवाले मुमुक्षु जीव प्रथम तो ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करके... फिर उसकी प्रगट प्रसिद्धि अर्थात् अनुभव किसप्रकार करते हैं, वह आचार्यदेव समझाते हैं।

जो जीव जिज्ञासु होकर स्वभाव समझने आया है, वह सुख लेने और दुःख मिटाने आया है। सुख अपना स्वभाव है, और जो दुःख है, वह क्षणिक विकृति है; इसलिये उसका अभाव हो सकता है। वर्तमान में दुःख-अवस्था का अभाव करके सुखरूपी अवस्था स्वयं प्रगट कर सकता है; इतना तो जो सत् समझने आया है, उसने स्वीकार कर ही लिया है। आत्मा को अपने भाव में ज्ञान का पुरुषार्थ करके विकाररहित ज्ञानस्वरूप का निर्णय करना चाहिये। वर्तमान में विकार होने पर भी विकाररहित स्वभाव की श्रद्धा कर सकते हैं, अर्थात् उस विकार और दुःख से रहित अपना स्वरूप सुखमय है, ऐसा निर्णय करके सुख का अनुभव हो सकता है।

पात्र जीव का लक्षण

जिज्ञासु जीव को स्वरूप प्रगट करने के लिये प्रथम ही सत्समागमरूप ज्ञानक्रिया शास्त्रों ने बतलायी है, इसलिए श्रुतज्ञान से आत्मा का निर्णय करने को कहा है। कुदेव-कुगुरु तथा कुशास्त्र की ओर का आदर और उस ओर का झुकाव तो जिज्ञासु जीव को छूट ही जाता है, तथा विषयादि परवस्तु में सुखबुद्धि चली जाती है; सब ओर से रुचि हटकर स्वोन्मुख रुचि हो तथा देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थरूप से पहिचानकर उनका आदर करे, और उनके बताये हुए ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे—यह सब 'स्वभाव के लक्ष से' हुआ हो तो वह जीव पात्र है, ऐसा कहा जा सकता है। इतनी पात्रता वह कहीं साक्षात् सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्दर्शन तो चैतन्यस्वभाव में उपयोग एकाग्र करके निर्विकल्प प्रतीत करना है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये पात्र जीव को क्या करना चाहिये, वह इस समयसार शास्त्र में स्पष्ट दर्शाया है।

सम्यग्दर्शन के लिये समयसार में बतलायी हुई क्रिया अर्थात् ज्ञानक्रिया

प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके, पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, परपदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत जो इन्द्रियों और मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ, उन्हें मर्यादा में लेकर मतिज्ञान-तत्त्व को (-मतिज्ञान के स्वरूप को) आत्मसन्मुख करना; तथा जो नाना प्रकार के नयपक्षों के अवलंबन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियाँ, उन्हें भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करना; इसप्रकार जीव जब ज्ञान को विकल्प से भिन्न करके आत्मसन्मुख करता है, उसी समय वह अत्यंत विकल्परहित होकर तत्काल निजरस से ही प्रगट होता हुआ, आदि, मध्य और अंत से रहित अनाकुल, केवल एक, संपूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो, ऐसे अखंड प्रतिभासमय, अनंत विज्ञानघन परमात्मारूप समयसार का अनुभव करता है और उसी समय आत्मा सम्यक् दिखायी देता है (अर्थात् श्रद्धा में आता) और ज्ञान होता है; इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

(समयसार गाथा १४४ टीका) उसका यह स्पष्टीकरण होता है।

श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ? श्रुत का लक्षण अनेकांत

'प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिए'—ऐसा कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ? सर्वज्ञ भगवान का कहा हुआ श्रुतज्ञान अस्ति-नास्ति द्वारा वस्तुस्वरूप को सिद्ध करता है, 'अनेकांत स्वरूप वस्तु स्व से है और पर से नहीं' इसप्रकार जो वस्तु को स्वतन्त्र सिद्ध करता है, वह श्रुतज्ञान है।

एक वस्तु स्व से है और वह वस्तु अनंत परद्रव्यों से भिन्न है, इसप्रकार पर से भिन्न दर्शाकर स्वोन्मुख होने को कहते हैं—वह श्रुतज्ञान का लक्षण है। वस्तु स्व से है और पर से नहीं—ऐसा कहकर श्रुतज्ञान से वस्तु की परिपूर्णता सिद्ध की है, और स्वाश्रय करने को कहा है। श्रुतज्ञान से दर्शाये हुए ऐसे स्वरूप को समझकर ज्ञानस्वभाव का निश्चय करना चाहिए।

ज्ञानस्वभावी अपना आत्मा अनंत परवस्तु से भिन्न है—ऐसा सिद्ध होने से अपने द्रव्य-पर्याय में ही देखने का रहा। अपना त्रिकाली द्रव्य, वह एक समय के विकार जितना नहीं, अर्थात् विकार क्षणिक पर्यायरूप है, परंतु त्रैकालिक स्वरूप में विकार नहीं—ऐसे विकाररहित ज्ञानस्वभाव की सिद्धि भी अनेकांत द्वारा ही होती है। भगवान के उपदेशित

शास्त्रों की महत्ता अनेकांत से ही है, वे ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करवाते हैं। सर्वज्ञ भगवान ने भी अपना कार्य परिपूर्ण किया और अन्य का कुछ भी नहीं किया, क्योंकि वे तत्त्व स्व से हैं और पर से नहीं; इसलिये वे किसी अन्य का कुछ भी नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र है, कोई किसी का कुछ भी नहीं कर सकता—ऐसा मानना ही भगवान के शास्त्रों की पहिचान है, वही श्रुतज्ञान है। इतना स्वीकार करना, वह तो अभी स्वरूप को समझने की पात्रता कहलाती है।

जैनधर्म अर्थात् आत्मा का वीतरागस्वभाव, उसकी प्रभावना धर्मी जीव करते हैं। आत्मा को जाने बिना आत्मा के स्वभाव की वृद्धिरूप प्रभावना किसप्रकार हो ? प्रभावना करने का विकल्प उठता है, वह भी पर के कारण नहीं। दूसरे से अपने में कुछ भी होता है—ऐसा कहना, वह जैनशासन की मर्यादा नहीं। जैनशासन तो वस्तु को स्वतंत्र स्वाधीन परिपूर्ण स्थापित करता है।

आत्मा के स्वभाव को पहिचानकर कषायभाव से अपने आत्मा की रक्षा करना— ऐसा भगवान का उपदेश है; वही परमार्थ दया है। जीव अपने आत्मा का निर्णय किये बिना क्या करेगा ? भगवान के श्रुतज्ञान में तो ऐसा आया है कि तू अपने से परिपूर्ण वस्तु है। प्रत्येक तत्त्व अपने से ही स्वतंत्र है, किसी तत्त्व को दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं है।—इसप्रकार वस्तु के स्वरूप की भिन्नता समझकर स्वाश्रय से वीतरागभाव प्रगट करना, वह अहिंसा है; और एक-दूसरे का कुछ कर सकता है; इसप्रकार वस्तु को पराधीन मानकर कर्तृत्वबुद्धि और राग-द्वेष करना, वह हिंसा है।

आनंद प्रगट करने की भावना हो, वह क्या करे ?

जगत में जीव सुख चाहते हैं, सुख कहो कि धर्म कहो। धर्म करना है अर्थात् आत्मशांति चाहते हैं, आत्मा की अवस्था में दु:ख का नाश करके वीतरागी आनंद प्रगट करना है। यह आनंद ऐसा होना चाहिये कि जो स्वाधीन हो; जिसके लिये पर का अवलंबन न हो। ऐसा आनंद प्रगट करने की जिसको यथार्थ भावना हो, वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानंद प्रगट करने की भावनावाला जिज्ञासु प्रथम तो यह देखे कि ऐसा पूर्णानंद किन्हें प्रगट हुआ है ? और किसप्रकार प्रगट हुआ है। अपने को अभी वैसा आनंद प्रगट नहीं, क्योंकि यदि अपने को वैसा आनंद प्रगट होता तो उसे प्रगट करने की भावना न होती, अस्तु अपने को अभी

वैसा आनंद प्रगट नहीं हुआ है परंतु अपने को जिसकी भावना है, वैसा आनंद अन्य किसी को प्रगट हुआ है, और जिनको वह आनंद प्रगट हुआ है, उनके पास से स्वयं उस आनंद को प्रगट करने के लिये सच्चा मार्ग समझना चाहता है।—इसलिये इसमें सच्चे निमित्तों को पहिचान तथा अपनी पात्रता, दोनों आ जाते हैं। इतना करे, वहाँ तक अभी जिज्ञासु है।

अपनी पर्याय में अधर्म-अशांति है, उसे मिटाकर धर्म-शांति प्रगट करना है। वह शांति स्वाश्रित एवं परिपूर्ण चाहता है। ऐसी जिसकी जिज्ञासा है, वह प्रथम ऐसा निश्चय करता है कि—मैं एक आत्मा, अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ, तो वैसा सुख किसी को प्रगट होना चाहिये; यदि परिपूर्ण सुख-आनंद प्रगट न हो तो दुःखी कहने में आता है। जिसको परिपूर्ण तथा स्वाधीन आनंद प्रगट हुआ है, वही परिपूर्ण सुखी है; ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं—इसप्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञान में सर्वज्ञता का निर्णय करता है। परंतु कर्ता-हर्ता की बात तो है ही नहीं; जब पर से किंचित् संबंध छूटा, तब तो आत्मा की जिज्ञासा हुई। यह तो पर से हटकर अब जिनको अपना हित करने की जिज्ञासा जागृत हुई है, ऐसे जिज्ञासु जीवों की बात है, परद्रव्यों के ओर की सुखबुद्धि और रुचि हटाकर स्वभाव की रुचि की पात्रता है।

दुःख का मूल भूल है। जिसने अपनी भूल से दुःख उत्पन्न किया है, वह अपनी भूल मिटाये तो उसका दुःख मिट सकता है... अन्य किसी ने भूल नहीं करवायी, इसलिये दूसरा कोई अपना दुःख टालने में समर्थ नहीं है। अपनी भूल मिटाने के लिये अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये पात्र जीव को प्रथम क्या करना? वह कहते हैं।

श्रुतज्ञान का अवलंबन ही प्रथम क्रिया

जो आत्मकल्याण करने के लिये तैयार हुआ है, ऐसे जिज्ञासु को उद्यम द्वारा अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना चाहिये। आत्मकल्याण अपने आप नहीं हो जाता परंतु अपने ज्ञान में रुचि और पुरुषार्थ से आत्मकल्याण होता है। अपना कल्याण करने के लिये, जिनको परिपूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है, वे कौन हैं, वे क्या कहते हैं, उन्होंने प्रथम क्या किया था—उसका अपने ज्ञान में निर्णय करना चाहिये; अर्थात् सर्वज्ञ का स्वरूप जानकर उनके कहे हुए श्रुतज्ञान के अवलंबन से अपने आत्मा का निर्णय करना चाहिये; यह प्रथम कर्तव्य है। किसी पर के अवलंबन से धर्म प्रगट नहीं होता; जब स्वयं अपने पुरुषार्थ से समझता है, तब उसमें निमित्तरूप सच्चे देव-गुरु ही होते हैं।

इसप्रकार प्रथम निर्णय यह हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष परिपूर्ण सुखी है और परिपूर्ण ज्ञाता है; वही पुरुष पूर्ण सुख का सत्य मार्ग कह सकता है; और स्वयं उसे समझकर अपना पूर्ण सुख प्रगट कर सकता है और जब स्वयं समझे, तब सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही निमित्तरूप होते हैं। जिनको स्त्री, पुत्र, पैसा आदि सांसारिक निमित्तों की ओर तीव्र प्रीति है और धर्म के निमित्त देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रीति नहीं है, उनको श्रुतज्ञान का अवलंबन प्रगट नहीं होगा; और श्रुतज्ञान के अवलंबन बिना आत्मा का निर्णय नहीं होगा। इसलिये जो विषयों में सुख मानते हैं या कुदेवादि को मानते हैं, उनको आत्मनिर्णय नहीं होता।

यथार्थ धर्म कैसे हो, उसके लिये जिज्ञासु जीव प्रथम पूर्ण ज्ञानी ऐसे भगवान, साधक, संत, गुरु तथा उनके कहे हुए शास्त्रों के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने का उद्यमी होता है, और फिर ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके अंतर्मुख होकर साक्षात् अनुभव करता है;—यह धर्म की कला है। जगत धर्म की कला को नहीं समझता; यदि धर्म की एक कला को समझ जाये तो उसका मोक्ष हुए बिना न रहे।

जिज्ञासु जीव प्रथम सुदेवादि का और कुदेवादि का निर्णय करके कुदेवादि को छोड़ता है तथा सत्देव-गुरु की ऐसी प्रीति हुई है कि सत्पुरुष जो आत्मस्वरूप दर्शाते हैं, उसे समझने का ही लक्ष है, इसलिये तीव्र अशुभ से तो वह दूर हो गया है। जब तक सांसारिक रुचि से विमुख न हो, तब तक वीतरागी श्रुत के अवलंबन में स्थिर नहीं रह सकता।

धर्म कहाँ है और कैसे हो ?

अनेक जिज्ञासुओं को प्रश्न उठता है कि धर्म के लिय प्रथम क्या करना ? उसके उत्तर में ज्ञानी कहते हैं कि अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करो। बाह्य में कहीं आत्मा का धर्म नहीं। धर्म तो अपना स्वभाव है। धर्म पराधीन नहीं। किसी के अवलंबन से धर्म नहीं होता, धर्म किसी को दिया नहीं जाता, परंतु अपने आत्मा के अनुभव से ही धर्म होता है। जो अपने पूर्णानंद को चाहते हैं, उनको पूर्ण आनंद का स्वरूप क्या है, वह निश्चय करना चाहिये। जो आनंद मैं चाहता हूँ, वह पूर्ण अबाधित चाहता हूँ, इसलिये किसी आत्मा ने वैसी पूर्णानंददशा प्राप्त की है और उन्हें पूर्णानंददशा में ज्ञान भी पूर्ण ही है; इसप्रकार जिनको पूर्णानंद प्रगट हुआ है, ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं, उनका तथा वे ध्क्या कहते हैं, उसका जिज्ञासु को निर्णय करना चाहिये। इसीलिये कहा है कि प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करो। उसमें उपादान-

निमित्त की संधि रही हुई है। ज्ञानी कौन हैं, सत् बात कौन कहते हैं—इन सबका निर्णय करने के लिये निवृत्ति लेना चाहिये। जीव को यदि स्त्री-कुटुम्ब-लक्ष्मी के राग में और संसार की रुचि में मंदता न हो तो वह सत्समागम के लिये निवृत्ति ले नहीं सकता। श्रुत का अवलंबन लेने को कहा, उसमें अशुभभाव का तो त्याग हो जाता है। तथा सच्चे निमित्तों की पहिचान भी हो जाती है।

सुख का उपाय : ज्ञान तथा सत्समागम

हे जीवो! तुम सुख चाहते हो? यदि तुम सुख की इच्छा रखते हो तो प्रथम सुख कहाँ है और कैसे प्रगट हो सकता है, उसका निर्णय करो। सुख कहाँ है और कैसे प्रगट हो, उसके ज्ञान बिना कोई तप करके मर जाये तो भी सुख नहीं ले सकता, धर्म नहीं हो सकता। सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए श्रुतज्ञान के अवलंबन द्वारा यह निर्णय होता है, और वह निर्णय करना ही प्रथम धर्म है। जिसे धर्म करना हो, वह धर्मी को पहिचाने, तथा वे क्या कहते हैं उसका निर्णय करने के लिये सत्समागम करे। सत्समागम से जिसको श्रुतज्ञान का अवलंबन हुआ कि—अहो! परिपूर्ण आत्मवस्तु ही उत्कृष्ट महिमावंत है, अपने ऐसे परमस्वरूप को मैंने अनंत काल में सुना भी नहीं—ऐसा होने पर उसको स्वरूप की रुचि होती है और सत्समागम का रंग लगता है, इसलिये उसे कुदेवादि या संसार के प्रति रंग उड़ जाता है तथा राग का रंग भी उड़ जाता है और ज्ञानस्वभाव की ओर झुकाव होता है।

यदि ज्ञानस्वभावी वस्तु की महिमा जाने तो उसकी रुचि जागृत होती है और उस ओर का पुरुषार्थ बढ़ता है। आत्मा अनादि से स्वभाव को भूलकर परभावरूपी परदेश में परिभ्रमण करता है, स्वरूप से बाह्य संसार में परिभ्रमण करते-करते जीव को कोई महाभाग्य से परम पिता सर्वज्ञ परमात्मा और परम हितकारी गुरु का समागम हुआ, वे पूर्ण हित का उपदेश देते हैं तथा आत्मा के स्वरूप की पहिचान कराते हैं। अहा, अपना स्वरूप सुनने से किस जिज्ञासु को उल्लास नहीं आयेगा? आता ही है। आत्मस्वभाव की बात सुनते ही जिज्ञासु जीवों को उसकी महिमा आ जाती है... अहो! अनंत काल से ऐसा अपूर्व ज्ञान प्राप्त नहीं किया, स्वरूप से बाह्य परभाव में भ्रमण करके अनंत काल से दुःखी हो रहे हैं। यदि ऐसा अपूर्व ज्ञान पूर्व में किया होता तो वर्तमान में ऐसा दुःख नहीं भोगना पड़ता। इसप्रकार स्वरूप की रुचि हो, रस आये, महिमा जागृत हो तो स्वरूप का निर्णय करके स्वसन्मुख होता है।

इसप्रकार जिन्हें धर्म करके सुखी होना हो, उन्हें प्रथम श्रुतज्ञान का अवलंबन लेकर आत्मा का निर्णय करना चाहिये। भगवान के कहे हुए श्रुतज्ञानरूपी रस्सी को दृढ़ता से पकड़ने पर उसके अवलंबन से स्वरूप का अनुभव हो जाता है। श्रुतज्ञान के अवलंबन का अर्थ क्या? जिसको सच्चे श्रुतज्ञान का ही रस है, अन्य कुश्रुत का रस नहीं, संसार की बातों का रस दूर हो गया और श्रुतज्ञान का तीव्र रस हुआ है; इसप्रकार श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिये जो तैयार हुआ है, उसे अल्पकाल में आत्मानुभव होगा। जिसके हृदय में संसार की तीव्र रुचि होती है, उसे तो ऐसे परम शांत स्वभाव की बात समझने की पात्रता नहीं है। यहाँ जो 'श्रुत का अवलंबन' कहा है, वह अवलंबन तो स्वभाव के लक्ष से है। समयसारजी में अप्रतिहत शैली से कथन है। जिसने ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिये श्रुत का अवलंबन लिया है, वह आत्मस्वभाव का निर्णय और अनुभव करता ही है, पीछे नहीं हटता, ऐसी बात ही समयसारजी में ली है। यहाँ संसार की रुचि कम करके आत्मा का निर्णय करने के लक्ष से आया है, उसे श्रुतज्ञान के अवलंबन से निर्णय होगा ही; निर्णय न हो–ऐसा नहीं होता। साहूकार के बहीखाता में दिवालिया की बात नहीं होती, उसीप्रकार यहाँ दीर्घ संसार की बात नहीं है। यहाँ तो अल्प काल में मोक्ष जानेवाले जीवों की ही बात है। सबकी बातों में हाँ जी हाँ करे, परंतु एक भी बात का अपने ज्ञान में निर्णय न करें, ऐसे 'ध्वजपुच्छ सरीखे' जीवों की बात यहाँ नहीं ली है, यह तो टंकोत्कीर्ण बात है। जो अनंत काल के संसार का अंत लाने के लिये पूर्ण स्वभाव के लक्ष से प्रारंभ करने चला है, ऐसा जीव वापिस नहीं लौटता। यहाँ ऐसे जीवों की ही बात है। यह तो अप्रतिहत मार्ग है। पूर्णता के लक्ष से प्रारंभ ही सच्चा प्रारंभ है।

जिस ओर की रुचि, उस ओर का मंथन

इसमें एक ही बात को आगे–पीछे करके पुनः पुनः कहा गया है; इससे रुचिवान जीव को अरुचि नहीं होती। जिसप्रकार नाटक की रुचिवाला नाटक में 'वन्समोर' करके भी अपनी रुचि की वस्तु को बारंबार देखता है; उसीप्रकार जिन भव्य जीवों को आत्मा की रुचि हुई और आत्मा का हित करना चाहते हैं, वे खाते–पीते, चलते–फिरते, सोते–बैठते, विचारते हुए निरंतर स्वभाव के लक्ष से श्रुत का ही सदा अवलंबन करते हैं। उसमें किसी काल या क्षेत्र की मर्यादा नहीं करते। श्रुतज्ञान की रुचि तथा जिज्ञासा इतनी दृढ़ हुई है कि कभी वह च्युत नहीं होती। किसी समय अवलंबन करना और फिर छोड़ देना, ऐसा नहीं कहा, परंतु श्रुतज्ञान के अवलंबन

द्वारा आत्मनिर्णय करने को कहा है। जिसको सच्चे तत्त्व की रुचि हुई है, वह अन्य सर्व कार्यों की प्रीति गौण करके अपनी परिणति को आत्मा की ओर झुकाता है।

प्रश्नः—क्या सत् की प्रीति हो, इसलिये खाना-पीना और धन्धा-व्यापार सब छोड़ देना चाहिये ?—श्रुतज्ञान सुनते ही रहना, परंतु सुनकर करना क्या ?

उत्तरः—सत् की प्रीति होने पर खाने-पीने का सब राग छूट ही जाये, ऐसा नियम नहीं, परंतु उस ओर की रुचि तो अवश्य कम हो जाती है। पर में सुखबुद्धि नहीं रहती और सबमें एक आत्मा ही मुख्य होता है; इसलिये निरंतर आत्मा की ही रुचि रहती है। 'मात्र श्रुतज्ञान सुनते ही रहो', ऐसा नहीं कहा, परंतु श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का निर्णय करना; श्रुतज्ञान के अवलंबन की धुन लगाकर, देव, गुरु, शास्त्र, धर्म, निश्चय, व्यवहार, द्रव्य, पर्याय आदि सब पहलुओं को यथावत् जानकर एक ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिये; उसमें भगवान कैसे हैं, उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं, इन सबका अवलंबन ऐसा निर्णय करवाता है कि तू ज्ञान है; आत्मा ज्ञानस्वरूपी ही है, ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ तू नहीं कर सकता।

देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं और उन देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर उनका अवलंबन लेनेवाला स्वयं क्या समझा है। वह इसमें बतलाया है। हे जीव! तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है, तेरा स्वभाव जानने का ही है, किसी पर का करना या पुण्य-पाप के भावों को करना, वह तेरा स्वरूप नहीं—ऐसा जो कहते हैं, वे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं, तथा इसप्रकार जो समझता है, वही देव-गुरु-शास्त्र के कहे हुए श्रुतज्ञान को समझा है। परंतु जो राग से धर्म मनवाते हैं, शरीर की क्रिया आत्मा करता है, ऐसा मनवाते हैं, जड़ कर्म आत्मा को हैरान करते हैं ऐसा कहते हों, वे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र नहीं, क्योंकि वे सच्चे वस्तुस्वरूप के जाननेवाले नहीं और विपरीत स्वरूप बतलाते हैं।

श्रुतज्ञान के अवलंबन का फल आत्मअनुभव

मैं ज्ञायकस्वरूप आत्मा हूँ, पुण्य-पाप की वृत्तियाँ मेरा ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञान से भिन्न हैं, ऐसा यथार्थ निर्णय प्रथम विचार द्वारा जिज्ञासु जीव करते हैं। वर्तमान में ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव नहीं हुआ, उसके पहले की यह बात है। जिन्होंने स्वभाव के लक्ष से श्रुतज्ञान का अवलंबन लिया है, वे अल्प समय में ही आत्मअनुभव करेंगे। प्रथम विचार में ऐसा निश्चय किया—मैं पर से तो भिन्न हूँ, पुण्य-पाप भी मेरा स्वरूप नहीं, अपने शुद्धस्वभाव के सिवा देव-

गुरु-शास्त्र का भी अवलंबन मुझे नहीं है; मैं तो स्वाधीन ज्ञानस्वभावी हूँ; ऐसा जिसने निर्णय किया, उसे ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव अवश्य होगा।

'पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा जिसने निर्णय द्वारा स्वीकार किया है, उसका परिणमन पुण्य-पाप की ओर से हटकर ज्ञायकस्वभाव की ओर होगा। 'मैं ज्ञानस्वभावी हूँ'—ऐसा जिसने आत्मा का निर्णय किया, उसे पुण्य-पाप का आदर नहीं रहता, इसलिये वह अल्पकाल में पुण्य-पापरहित ज्ञानस्वभाव का अनुभव करके तथा उसमें स्थिरता करके वीतराग होकर पूर्ण परमात्मा हो जायेगा। परिपूर्ण की ही बात है; प्रारंभिकता हुई है, वह पूर्णत को लक्ष में लेकर ही हुई है। श्रवण करानेवाला और श्रवण करनेवाला दोनों को पूर्णता का ही ध्येय है। जो पूर्ण स्वभाव बतलाते हैं—ऐसे देव-गुरु-शास्त्र तो पवित्र ही हैं, और उस स्वभाव को जिसने स्वीकार किया, उसका भी परिणमन पवित्रता की ओर हुआ है। पूर्णता को स्वीकार करनेवाला पूर्ण ही होगा। इसप्रकार उपादान-निमित्त की संधि है।

सम्यग्दर्शन होने के पूर्व....

आत्मा का आनंद प्रगट करने की पात्रता का स्वरूप कहा जाता है। भाई! तुझे धर्म करना है ना? तो तू अपने को पहिचान। प्रथम सच्चा निर्णय करने की बात है। अरे, तू कौन है? क्या क्षणिक पुण्य-पाप को करनेवाला ही तू है? नहीं-नहीं, तू तो ज्ञान करनेवाला ज्ञानस्वभावी है। पर का ग्रहण-त्याग करनेवाला तू नहीं, जाननेवाला ही तू है। ऐसा निर्णय ही धर्म की प्रथम सीढ़ी का (सम्यग्दर्शन का) उपाय है। प्रारंभ में अर्थात् सम्यग्दर्शन से पूर्व ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रता में भी नहीं है। अपना सहज स्वभाव तो जानने का है—ऐसा श्रुतज्ञान के अवलंबन से जो निर्णय करता है, वह पात्र जीव है। जिनको पात्रता प्रगट हुई है, वह आगे बढ़कर अनुभव अवश्य करेंगे। सम्यग्दर्शन करने के लिये प्रथम जिज्ञासु जीव, धर्मोन्मुख जीव, सत्समागम को प्राप्त जीव श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करते हैं।

मैं ज्ञानस्वभावी ज्ञाता हूँ; ज्ञेय में कहीं राग-द्वेष करके अटके, ऐसा मेरा ज्ञानस्वभाव नहीं। पर कैसा भी हो, मैं तो उसका मात्र जाननेवाला हूँ, मेरा ज्ञातास्वभाव पर का कुछ भी नहीं करता। जिसप्रकार मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, उसीप्रकार जगत के सर्व आत्मा ज्ञानस्वभावी हैं; जो स्वयं अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चूक गये हैं, वे दुःखी हैं; वे स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करें तो उनका दुःख दूर हो सकता है। मैं किसी को बदलने में समर्थ

नहीं हूँ, पर जीवों का दु:ख मैं मिटा नहीं सकता, क्योंकि उन्होंने दु:ख अपनी भूल से किया है; वे अपनी भूल मिटायें तो उनका दु:ख दूर हो सकता है। किसी पर के लक्ष से रुक जाना ज्ञान का स्वभाव नहीं।—ऐसा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना, वह सम्यक्त्व की पात्रता है।

प्रथम जिसे श्रुत का अवलंबन बतलाया, उसमें पात्रता हुई है; अर्थात् श्रुत के अवलंबन से आत्मा का निर्णय हुआ है; अब आत्मा का प्रगट अनुभव कैसे हो? तत्संबंधी दूसरा लेख इसी अंक में आगे देखिये।

जिज्ञासु शिष्य का निर्णय

अपने ज्ञान में अपनी वस्तु कैसे गुप्त रह सकती है? अन्य विचार छोड़कर, सत्य स्वरूप को लक्ष में लेकर शिष्य प्रथम तो उसका निर्णय करता है, पश्चात् उस निर्णय के बल से अनुभव होता है। चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति के लिये शिष्य स्वोन्मुख होने का उद्यम कर रहा है, राग की अपेक्षा बिना ज्ञान में सीधा आत्मा को ही ग्रहण करना चाहता है अर्थात् आत्मा को स्वसंवेदनप्रत्यक्ष करना चाहता है; इसलिये निर्णय किया है कि मेरा स्वभाव ही स्वसंवेदनप्रत्यक्ष होने का है, उसमें बीच में राग का आवरण नहीं रह सकता। आत्मा को प्रत्यक्ष करने की शक्ति राग में नहीं है, ज्ञान में ऐसी शक्ति है; इसलिये स्वानुभव के लिये राग का आश्रय लेना पड़े, ऐसा नहीं है। इतने निर्णय तक आने के पश्चात् साक्षात् अनुभव के लिये शिष्य का उद्यम है, उसका सरस वर्णन आचार्यदेव ने समयसार में किया है।

अज्ञानी का काल तो परद्रव्य की ही चिंता में चला जाता है, स्वद्रव्य क्या है, उसके विचार का भी उसे अवकाश नहीं है। यहाँ तो स्वद्रव्य की चिंता में चित्त को लगाया है, ऐसे जिज्ञासु की बात है।

संसारभ्रमण का कारण और उसे मिटाने का उपाय

[पूज्य स्वामीजी का सरल भाववाही प्रवचन]

आत्मा का एकत्व-विभक्त स्वभाव जीव ने कभी जाना ही नहीं। पर से भिन्न, देह से और रागादि से भी भिन्न तथा अपने ज्ञानानंदस्वभाव के सथ एकमेक ऐसे आत्मस्वभाव को न जानने से यह जीव चारों गतियों में भटक रहा है। पुण्य करके स्वर्गादि में और पाप करके नरकादि में—इसप्रकार अपने अपराध से ही चार गतियों के भवचक्र में भ्रमण कर रहा है। वह भवभ्रमण कैसे मिटे? उसकी यह बात है। ज्ञानी सत् पुरुष श्री राजचंद्रजी १६ वर्ष की आयु में भवचक्र का फेरा मिटाने की बात करते हुए लिखते हैं कि—

''बहु पुण्य के महापुंज से शुभ देह मानव का मिला,
फिर भी अरे! भवचक्र का फेरा नहीं इक भी मिटा!''

मैं आत्मा कौन हूँ, क्या हूँ; इसप्रकार आत्मा की प्रतीति किये बिना कदाचित् पुण्य करे तो उससे मनुष्यादि का भव मिलता है किंतु उससे भव का फेरा नहीं मिटता। उसे मिटाने का उपाय शुभ-अशुभराग से पार है। आत्मा ज्ञानानंद शाश्वत् वस्तु है। इस देह के रजकण भिन्न वस्तु हैं, उसकी क्रिया आत्मा की नहीं है। अरे, राग की क्रिया भी वास्तव में देखो तो आत्मा की नहीं है। मैं ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा जिसे अनुभव नहीं है, वही राग की क्रिया का कर्ता होता है, राग को भला मानता है। जो जीव ज्ञातापन को भूलकर क्रोधादि परभावों का कर्ता हुआ है, उसने परभावों के साथ एकत्वबुद्धिरूप प्रेम किया, अत: उसे आत्मा के पवित्र स्वभाव पर क्रोध है, अरुचि है; उसे मिथ्यात्व कहा है, और वही बड़ी भूल होने से संसारभ्रमण का मूल है।

प्रभु! तू तो ज्ञान है; जो वस्तु ज्ञान की नहीं है, ऐसे परवस्तु का कर्तृत्व तू अपने में मान रहा है, वह बहुत बड़ी भूल है। उस मिथ्यात्व को शास्त्रों ने महापाप कहा है। उसका नाश होकर आत्मा में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कैसे हो? अपूर्व धर्म का प्रारंभ कैसे हो? वह बात यहाँ समझाते हैं। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र और अनंत ज्ञान-आनंद की खान है, उसमें एकबार खोज तो कर। जहाँ आनंद भरा है, वहाँ शोध करने से प्राप्त होगा। राग में या देह में तेरा आनंद किंचित् नहीं है, अत: उसमें शोधने से तुझे कभी आनंद की प्राप्ति नहीं होगी। देहादि परवस्तु के कर्तृत्व में रुकने से तुझे अपने आत्मा की शांति नहीं मिलेगी। अंतर्दृष्टि से देखने पर धर्मी जीव अपने

ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को सदा विकार से भिन्न देखता है, अत: वह ज्ञान का ही आदर करता है, शुभाशुभ विकार को दु:खमय जानकर उसे आदरणीय नहीं मानता। इसप्रकार अंतर्दृष्टि करने से अनंत काल का अज्ञान एक क्षण में नष्ट हो जाता है।

कोटि वर्ष का स्वप्न भी जागृत हुए समाय,
त्यों विभाव अनादि का ज्ञानोदय से जाय॥

अनंत काल का अज्ञान दूर करने के लिये अनंत काल तक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती, किंतु सम्यग्ज्ञान होते ही वह दूर हो जाता है। निर्मल भेद-विज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप का ज्ञान होने पर शुभाशुभराग का कर्तृत्व नहीं रहता। ऐसा यथार्थ ज्ञान श्रद्धान, और अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग का अपूर्व रत्न है। जिसप्रकार रत्न का मूल्य जौहरी जानता है; उसीप्रकार चैतन्यरत्न कैसा है, उसका मूल्य एवं महिमा सम्यग्दृष्टि ही जानता है। सम्यग्दर्शन के समय जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह अपूर्व शांतरसमय है, निराकुल है। ऐसे भेदविज्ञान द्वारा ही जीव तीनों काल मोक्ष को प्राप्त करते हैं; भेद-विज्ञान के बिना कोई जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है, उसकी प्रतीति करके उसमें लीनता द्वारा जिन्होंने केवलज्ञानज्योति प्रगट की है, ऐसे श्री सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी झेलकर कुन्दकुन्दाचार्य ने इस समयसार शास्त्र की रचना की है। अपने स्वानुभव के द्वारा जिस शुद्धात्मा को जाना, वही समयसारजी शास्त्र में दर्शाया है।

आतम अनुभवरस कथा प्याला पिया न जाय;
मतवाले गिर जात हैं, निमत रहें पचाये॥

आत्मानुभव का आनंदरस कोई अलौकिक है; उस अनुभवरस को निर्मोही ऐसे ज्ञानी ही पचा सकते हैं। पर की ममता में फंसे हुए मतवाले जीव उस चैतन्य के अनुभवरस को नहीं पचा सकते। पर की ममता को छोड़कर, राग की रुचि छोड़कर, पर से भिन्न ऐसे चैतन्यतत्त्व को प्रतीति में लेकर धर्मी जीव चैतन्य के आनंदरस का अनुभव करते हैं।

अरे जीव! तू इस चैतन्यरस का पान कर; चैतन्यरस की मस्ती में अन्य किसी की आशा तुझे नहीं रहेगी। कहा है कि—

''ज्ञानसुधारस पीजे... आशा औरन की क्या कीजे?''

जिसे चैतन्य का रंग चढ़ा, उसे परपद की प्रीति नहीं रहती। स्वपद को भूलकर अज्ञानी

परपद में रच रहा है। भाई, अपने स्वपद में एकबार तो दृष्टि लगा।.... उसमें परम अतीन्द्रिय आनंद का ऐसा अनुभव होगा कि इन्द्र का वैभव भी तुझे सड़े हुए तिनके के समान भासित होगा। शुभाशुभभावोंरूप जो आस्रव हैं, वे अशुचि हैं, अध्रुव हैं, दुःखरूप हैं; उनसे भिन्न चिदानंदस्वभावी आत्मा ध्रुव है; वह शुचि है, दुःख का अकारण है, उसका अनुभव आनंदरूप है। इसप्रकार आत्मा और आस्रवों की भिन्नता जानते ही ज्ञान आस्रवों से भिन्न संवररूप होता है। इसप्रकार भेदज्ञान द्वारा संवर करके अनंत जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।

सम्मेदशिखरजी सिद्धक्षेत्र की वंदना के समय धर्मी जीव अनंत सिद्ध परमात्मा का स्मरण करते हैं; वहाँ से अनंत जीव मुक्तदशा प्राप्त करके मोक्षस्थान में पधारे हैं और सिद्ध परमात्मारूप में विराजमान हैं। आत्मा का संसार उसकी विभावदशा थी; आत्मा स्वयं शुद्धभावरूप हुआ, तब आत्मा में ही मोक्षदशा प्रगट हुई। ऐसी मोक्षदशा कैसे प्राप्त हो, उसके स्मरणार्थ तीर्थयात्रा है। उन भगवंतों को अक्षय अनंत आनंद प्रगट हुआ, वह कहाँ से हुआ? जो निजशक्ति में था, वही प्रगट हुआ है। ऐसी प्रतीति और पहिचान किये बिना सिद्धों का सच्चा स्मरण कैसे होगा?

आत्मा शुद्धनय से शुद्धज्ञानस्वरूप है; रागादि, देहादि की क्रिया, वह आत्मा का कार्य नहीं है और उसके आधार से सम्यग्दर्शन धर्मक्रिया नहीं होती। आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनादि का आधार है। इसप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करना धर्म का प्रथम सोपान है।

अनुभव की रीत

[राजकोट में दिये गये पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों में]

आत्मा का हित करने के लिये ज्ञान और राग दोनों के स्वरूप की भिन्नता को जानना चाहिये। दोनों की भिन्नता का निर्णय करके, मैं ज्ञान ही हूँ, जो ज्ञान से भिन्न जाति है, वह मैं नहीं हूँ; इसप्रकार अंतर में अभ्यास के द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। और ऐसे अनुभव द्वारा ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

—ऐसे अनुभव के लिये कौन सा व्यवहार है? तो कहते हैं कि—सविकल्पदशा में ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करना, वह व्यवहार है। जिसको संसार में दु:ख भासित होता है और उस दु:ख से छूटना चाहता है, वह जीव गुरु के समीप जाकर उपाय पूछता है कि प्रभो! यह आत्मा दु:खों से कैसे छूटे? बंधन में बँधा हुआ पशु भी छुटकारे के समय आनंद से उल्लसित होता है; तो अनादिकाल से बंधन में पड़े हुए आत्मा को उससे छूटने की रीति सत्पुरुष सुनाते हैं और वह सुनते ही मोक्षार्थी जीव को उल्लास आता है कि—वाह! यह मेरे मोक्ष का उपाय बतला रहे हैं!

आत्मा को कैसे जानना, उसकी यह बात है। स्वसन्मुख होकर आत्मा को जानने से सम्यग्दर्शन होता है और उसमें सिद्ध परमात्मा जैसा ही आंशिक सत्यसुख का स्वाद आता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की तैयारीवाले जीव की दशा का वर्णन करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि—स्वभाव का निर्णय करके उसके आश्रय से, स्वलक्ष से अनुभव का उद्यम करते हुए जीव को विकल्प तो है, किंतु उसका जोर विकल्प की ओर नहीं जाता, उसका जोर तो अंतरस्वभाव की ओर ही जाता है। ज्ञान के निर्णय में जैसे स्वभाव को ग्रहण किया, वैसा ही अनुभव में लेना चाहता है; इसलिए उसकी परिणति स्वभावोन्मुख होती जाती है और विकल्प टूटकर निर्विकल्प अनुभव होता है। पहले रागरूप विकल्प था किंतु यह उसका फल नहीं है, किंतु अंतरस्वभाव की ओर निर्णय का जोर था, उसका यह फल है। यद्यपि उसका यह फल है—ऐसा कहना भी व्यवहार है, वास्तव में तो सम्यग्दर्शन के समय का ही यह स्वतंत्र प्रयत्न है। आत्मनिर्णय के बल से बारंबार अभ्यास करते-करते राग की रुचि का जोर टूटने लगता है

और स्वभाव की ओर का बल बढ़ने लगता है। अंत में राग के अवलंबन का भाव तोड़कर तथा स्वभाव के अवलंबन का भाव प्रगट करके वह आत्मार्थी जीव निर्विकल्प अनुभव प्रगट करता है।—ऐसी दशा प्रगट करने के लिये यहाँ जिज्ञासु शिष्य पूछता है।

स्वात्मानुभाव के लिये जो पात्र है, ऐसे शिष्य ने पूछा है कि यह आत्मा आस्रवों से अर्थात् दुःख से कैसे छूट सकता है ?

अब शिष्य के इस प्रश्न में कितनी बात की स्वीकृति आ गयी ?—कि प्रथम आत्मा है; वर्तमान दशा में दुःख है, वह दुःख नष्ट होकर सुख प्रगट हो सकता है; ऐसा पूर्ण सुख प्रगट करनेवाले सर्वज्ञ परमात्मा इस जगत में हैं, उस पद के साधक भी जगत में हैं अर्थात् मोक्षतत्त्व, संवर-निर्जरातत्त्व तथा उनसे विरुद्ध आस्रव और बंधतत्त्व हैं; इसप्रकार सभी तत्त्वों की स्वीकृति सहित शिष्य का प्रश्न है।

आत्मा सुखस्वरूप है, दुःख उसका नित्य स्वरूप नहीं है, इसलिये दुःख से मुक्त होने का उपाय हो सकता है। रागादि परभावों को जो आत्मा का मानता है, शुभराग को सुख का साधन मानता है, उसे तो रागादि से मुक्त होने का प्रश्न उठेगा ही नहीं। राग को जो दुःखरूप न माने, वह जीव उससे दूर होने का उपाय क्यों करेगा ?

इसप्रकार, रागादिक को दुःखरूप जाना और आत्मस्वभाव सुखरूप है, ऐसे निर्णय सहित जिसको अनुभव की जिज्ञासा जागृत हुई है, उस शिष्य का प्रश्न है कि आत्मा दुःखरूप ऐसे आस्रवों से किसप्रकार छूटे ? तो उसकी विधि आचार्य भगवान ने इस ७३वीं गाथा में बतलायी है।

भाई! प्रथम तो आत्मा के स्वभाव का निर्णय कर। मैं ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा स्वसंवेदनप्रत्यक्ष हूँ; क्रोधादि परभावों का स्वामित्व मुझमें नहीं है, इसप्रकार निर्णय करके अंतर की गहराई में डुबकी लगाने से विकल्परहित अतीन्द्रिय आनंद की अनुभूति होती है, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का समावेश हो जाता है। ऐसी अनुभूति करना ही दुःख से छूटने की रीति है।

आत्मा स्वयं अपने को प्रत्यक्ष नहीं हो सकता—ऐसा कोई माने तो वह बात ठीक नहीं है। ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि स्वसंवेदन द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष करता ही है। आत्मा को प्रत्यक्ष करने की शक्ति राग में नहीं है किंतु ज्ञान में है। ज्ञान में अपनी वस्तु गुप्त कैसे रह सकती है ? अन्य विचार को छोड़कर सत्य स्वरूप को विचार में लेकर शिष्य प्रथम उसका निर्णय करता

है। पश्चात् उस निर्णय के बल द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव होता है। चैतन्यस्वरूप को प्राप्त करने के लिये शिष्य उस ओर उन्मुख हो रहा है। राग की अपेक्षा बिना ज्ञान में सीधा आत्मा को पकड़ना चाहता है अर्थात् आत्मा को स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष करना चाहता है; इसलिये निर्णय किया है कि मेरा स्वभाव ही स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष होने का है, उसमें बीच में राग का आवरण नहीं रह सकता, प्रथम राग का आश्रय लेना पड़े, ऐसा नहीं है।—इतने निर्णय तक आने के पश्चात् अब साक्षात् अनुभव के लिये शिष्य का उद्यम है।

स्वानुभव, वह मंगल है। स्वानुभव में आत्मा अपने को स्पष्ट प्रकाशमान होता है; स्वानुभव में आत्मा के सिवा अन्य किसी का अधिकार नहीं है। ऐसे स्वसंवेदन की शक्तिवान जीव है। आत्मा के स्वरूप का निर्णय करके ऐसा स्वसंवेदन करना, वह बंधन से छूटने का उपाय है, ऐसे स्वसंवेदन द्वारा ही मोक्षमार्ग होता है।

जिसप्रकार दीपक को देखने के लिये दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती; दीपक स्वयं अपने को प्रकाशित कर रहा है कि मैं दीपक हूँ; उसीप्रकार यह आत्मा चैतन्यप्रकाशी दीपक स्वयमेव अपने स्वसंवेदन में प्रकाशित हो रहा है, उसे प्रकाशित होने के लिये अन्य की आवश्यकता नहीं है। उपयोग में मेरा आत्मा है और राग में मेरा आत्मा नहीं है—इसप्रकार धर्मी स्पष्टतया अपने को राग से भिन्न अनुभव करता है। राग और इन्द्रियों से पार ऐसे अंतर्मुख उपयोग द्वारा साक्षात् अनुभव में लेता है और उस अनुभव में परम आनंद होता है।

राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मा को जाने; ज्ञान में ही ऐसी शक्ति है कि आत्मा को जाने—इसप्रकार राग और ज्ञान की भिन्नता का निर्णय करके ज्ञान द्वारा आत्मा का स्वसंवेदन करने से भेदज्ञान होता है; भेदज्ञान होते ही आत्मा अपने को रागादि बंधभावों से भिन्न अनुभव करता है—ऐसे अनुभव के द्वारा ही बंधन से मुक्त हो सकता है अर्थात् मोक्षदशा की प्राप्ति हो सकती है। चतुर्थ गुणस्थान से सम्यग्दृष्टि को भी ऐसा अनुभव होता है। अहो, इस स्वसंवेदन की महिमा अपार है, सभी गुणों का रस स्वसंवेदन में समा जाता है! ऐसे शान्त अनुभव रस को 'रसेन्द्र' कहा है अर्थात् सर्व रसों में शांतरस श्रेष्ठ है। ऐसा अनुपम आनंद रस का अनुभव कैसे प्रगट हो, उसकी यह बात है।

शिष्य ने प्रश्न किया था कि मेरा आत्मा आस्रवों से कैसे छूटे?

यह प्रश्न पूछने आया, तब अशुभ से तो छूटा ही है; अशुभ से छूटा, तब तो सत्समागम में आकर यह प्रश्न पूछता है। उसके प्रश्न में यह ध्वनि है कि मात्र अशुभ से छूटकर वह अटक

जानेवाला नहीं है किंतु अशुभ और शुभ ऐसे सभी आस्रवों से छूटकर आनंदस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करना चाहता है। प्रभो! मेरा आत्मा पापों से कैसे छूटे? ऐसा नहीं पूछा, किंतु आस्रवों से अर्थात् पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं, उनसे मेरा आत्मा कैसे छूटे? और ज्ञानस्वरूप आत्मा किसप्रकार अनुभव में आये?—ऐसा प्रश्न पूछा है। इतनी तो प्रश्नकार जिज्ञासु की भूमिका है; इतनी अपूर्व विचारदशा तक तो वह आया है।

ऐसे जिज्ञासु को आचार्यदेव प्रथम तो ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करने को कहते हैं।

आत्मानुभव की यह बात सूक्ष्म है; सूक्ष्म अर्थात् उत्तम है, हितकर है। समझने में सूक्ष्म या कठिन लगे, तथापि यह मेरे हित की उत्तम बात है; इसप्रकार महिमा लाकर समझने का उद्यम करना चाहिये।

कैसा है मेरा आत्मा?—कि जिसके अनुभव द्वारा मुझे सम्यग्दर्शन और अतीन्द्रिय आनंद हो और आस्रव मिट जाये। प्रथम तो मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने ही स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष हूँ। नित्य अखंड विज्ञानघनस्वभावी एक हूँ; अनेक गुण-पर्यायों के भेदों से या प्रदेशभेदों से मैं छिन्न-भिन्न नहीं होता, किंतु सदा अनंतगुण-पर्यायों से अभेद एक विज्ञानघन हूँ; आत्मा की निर्मल अनुभूतिस्वरूप होने से शुद्ध हूँ; उस शुद्धता में कर्ता-कर्मादि कारकों के भेद नहीं हैं। छहों कारक अभेदरूप से अपनी अनुभूति में समा जाते हैं। इसप्रकार निर्मल अनुभूतिस्वरूप होने से मैं शुद्ध हूँ; एकरूप केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप ऐसा मैं हूँ; अपने से अन्य क्रोधादि परभावों के स्वामित्वरूप किंचित् नहीं होता; अतः ममतारहित हूँ। रागादि कोई भी अन्यभाव मेरे धर्म का साधन हो—ऐसी ममता मुझे नहीं है। रागादिभावों के साथ मुझे कर्ता-कर्मत्व का संबंध किंचित् भी नहीं है; मैं तो चैतन्यघन हूँ; अतः रागादिक के स्वामित्वरूप से परिणमित नहीं होता किंतु उनसे भिन्न ज्ञानरूप ही परिणमन करनेवाला हूँ; स्वभाव से ही मैं परिपूर्ण ज्ञानदर्शनमय हूँ। देखो, धर्मी जीव आत्मा का ऐसा निर्णय करता है। और ऐसे आत्मानुभव द्वारा ही आत्मा आस्रवों से छूटता है।

इसप्रकार अनुभव द्वारा जब आत्मा आस्रवों से पृथक् हो, तब उसे संसार का त्याग कहा जाता है। अखंड ज्ञानस्वरूप के अनुभव द्वारा आस्रव को छोड़े बिना संसार नहीं छूटता। संसार कोई बाहर की वस्तु नहीं है किंतु जीव ने अपनी पर्याय में अज्ञान द्वारा उत्पन्न किये हुए आस्रवभाव ही संसार हैं और स्वाश्रित ज्ञान के द्वारा वह आस्रव-संसार छूट जाता है।●

धर्मी को आस्रव नहीं... क्यों नहीं ?
—क्योंकि उसके परिणाम ज्ञानमय हैं।

[भाद्रपद शुक्ला दसवीं के दिन सोनगढ़ में श्री धीरजलाल नाथालाल के मकान का उद्घाटन हुआ; उस अवसर पर परमपूज्य श्री कानजीस्वामी का समयसार गाथा १६४-१६५ पर प्रवचन।]

यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, क्रोधादि आस्रव वास्तव में उसका स्वरूप नहीं। यह बात कर्ता-कर्म अधिकार में समझाई और इसप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा एवं रागादि आस्रवों का भेदज्ञान कराया है।

अब, जीव को जो मिथ्यात्वादि आस्रव होते हैं, वे अपने परिणाम से होते हैं। भावआस्रव, वह जीव के परिणाम हैं। उनमें जीव के परिणामों का अपराध है। वे आस्रवभाव जड़ नहीं हैं तथा वे चैतन्य का परमार्थस्वरूप भी नहीं है, इसलिये उन्हें 'चिदाभास' कहा है।

ऐसे राग-द्वेष-मोहरूप जो चिदाभास परिणाम हैं, उनका कर्ता अज्ञानी ही होता है, ज्ञानी नहीं। ज्ञानी तो अपने को चैतन्यस्वरूप ही अनुभव करता है। अज्ञानी अतीन्द्रिय आनंद से पूर्ण चैतन्यतत्त्व को भूलकर अपने को रागादिरूप अनुभव करता है; वह अपने स्वरूप को भूला है। भूल, वह जड़ नहीं, परंतु जीव के चिदाभास परिणाम हैं। वास्तव में वे चैतन्य नहीं हैं, परंतु चैतन्य जैसे दिखायी नहीं हैं। यद्यपि वे चैतन्यभाव से पृथक् हैं, लेकिन अज्ञानी को उनका पृथक्रूप भासित नहीं होता, इसलिये वह चिदाभास ऐसे मिथ्यात्वादिभावों का कर्ता होता है।

धर्मी जीव को अपने श्रद्धा-ज्ञान में किंचित् भी रागादि की मिलावट नहीं। ऐसे वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान चौथे गुणस्थान से प्रारंभ हो जाते हैं। धर्मी जीव को श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में अपना चैतन्यस्वभाव आया है; उस स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान में रागादि परभाव किंचित् नहीं अर्थात् आस्रवों का कर्तृत्व उनमें नहीं है। इसप्रकार धर्मी जीवों को आस्रव का अभाव है।

जीव के मिथ्यात्वादिभाव, वह संज्ञ-आस्रव अर्थात् भावास्रव है; तथा पुराने कर्मों का उदय में आना, वह असंज्ञ-आस्रव अर्थात् द्रव्यास्रव है और वह अन्य कर्मों के आस्रव का

कारण है परंतु वह पुराना कर्म नये कर्मों के आस्रव का निमित्त कब होगा?—कि यदि जीव राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित हो तो पुराने कर्मों का उदय नये कर्मों के आस्रव का निमित्त होता है। जीव के राग-द्वेष-मोह बिना द्रव्यास्रव नये आस्रव का करण नहीं होते।

जीव का जो चिदानंदस्वभाव है, उस स्वभाव में राग-द्वेष-मोह नहीं, वे वास्तव में चैतन्य नहीं परंतु चैतन्य जैसे दिखायी देते हैं, इसलिये 'चिदाभास' हैं। चौथे गुणस्थान में धर्मी जीव उन चिदाभास परिणामों को अपने स्वभावरूप अनुभव नहीं करता, उन्हें ज्ञान से पृथक् अर्थात् अज्ञानमय परिणाम जानता है। आनंदस्वरूप आत्मा को भूलकर जब अज्ञानरूप से रागादि का कर्ता होता है, तभी जीव को आस्रव होता है।

प्रश्नः—ज्ञानी को आस्रव क्यों नहीं?

उत्तरः—क्योंकि ज्ञानी अपने को राग-द्वेष-मोह से पृथक् चिदानंदस्वभावरूप अनुभव करता है। उस चिदानंदस्वभाव में आस्रव क्यों होगा? जो रागादि में एकत्वबुद्धि रखते हैं, उन्हें ही आस्रव होता है और वह अज्ञानी को ही होता है, ज्ञानी को नहीं। देखो, यह धर्म की सुंदर बात। धर्मी की ज्ञानदशा कैसी होती है और अज्ञानी के परिणाम कैसे होते हैं? उन दोनों को पृथक्-पृथक् करके समझाया है। राग से पृथक् जितना चैतन्यपरिणमन हुआ, उसी में वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है। चौथे गुणस्थान में अनंतानुबंधी कषाय का अभाव होने से जितना वीतरागभावरूप परिणमन हुआ, उतने अंश में चारित्र है; और उस वीतरागभाव में आस्रव नहीं है। आत्मा के साथ वह परिणाम अभेद हो गये; अभेदज्ञान हुआ, वीतरागविज्ञान हुआ। ऐसे ज्ञानपरिणाम को धर्म कहते हैं, उस जीव ने अपने घर में आकर निवास किया है, आनंदमय ऐसे निजगृह में आकर बसा है। चैतन्यरूप निजगृह में आस्रवों का प्रवेश नहीं।

अहो, चैतन्यचक्रवर्ती आत्मा! उसका अनादर करके राग का आदर करने से मिथ्यात्व का महान पाप होता है, वही बड़ा आस्रव है। धर्मी को विकल्प से भेद और चैतन्यस्वभाव के साथ अभेदपना वर्तता है, इसलिए उसके परिणाम चैतन्यस्वभाव के साथ अभेद हुए हैं, उनमें रागादि आस्रवों का अभाव है, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उनमें समावेश है। जैसे-दूध की ठंडाई में कई प्रकार के रस मिले होते हैं, उसीप्रकार चैतन्य के अनुभव में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-आनंदादि वीतरागरस एकाकार अभेद अनुभव में आते हैं। ऐसे वीतरागभावरूप परिणाम चौथे गुणस्थान से प्रारंभ हो जाते हैं। चौथे गुणस्थान में जो सम्यक्त्वादि परिणाम हैं, वे

भी वीतराग हैं और वे परिणाम आस्रव का कारण नहीं होते। आस्रवों का कारण तो अज्ञानमय परिणाम हैं और वे अज्ञानपरिणाम अज्ञानी ही करते हैं। ज्ञानी तो अपने को कर्म और रागादिक से भी पृथक् चिदानंदस्वरूप ही अनुभव करते हैं, ऐसा अनुभव करने से संसार का मूल उखड़ गया, आस्रव का मूलकारण नष्ट हो गया। अब रागादिभाव ज्ञान का कार्य नहीं, परंतु ज्ञान के ज्ञेयरूप ही हैं, इसलिये धर्मी को ज्ञानमय परिणाम में आस्रव नहीं है।

जहाँ आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान हुआ, वहाँ ज्ञान रागादि से निवृत्त हुआ, वीतराग हुआ। देखो, यह वीतरागमार्ग! यह वीतरागी संतों के हृदय की बात है, यह महान मंगल है। धर्मी के परिणाम ज्ञानमय ही हैं और परिणाम में बंधन है ही नहीं, इसलिये वह मुक्त ही है। धर्मी तो राग से पृथक् होकर ज्ञानस्वभाव ऐसे निजघर में रहा है। वस्तु में रहना, उसका नाम वास्तु-प्रवेश है। चैतन्यवस्तु राग से भिन्न आनंदमय है, उस वस्तु को श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में लेना, वही अपने स्वघर में सच्चा वास्तु-प्रवेश है। स्वघर में रहने से केवलज्ञान प्राप्त होगा और वह सादि अनंत काल आनंदमय निजघर में रहेगा। सम्यग्दर्शन, वह मोक्षमहल के लिये पक्की नींव के समान है, मिथ्यात्व की नींव पर मोक्षमहल नहीं बनाया जा सकता, मोक्षमहल के लिये चिदानंदस्वभाव की निर्विकल्प अनुभूति करके सम्यक् प्रतीतिरूप पक्की नींव डालना चाहिये। ऐसा अनुभव करने से आस्रवों का सर्वथा नाश होकर अल्पकाल में परम आनंदमय मोक्षदशा प्रगट होती है।

अभिमान विरुद्ध दृढ़ता

देहादि परवस्तु का कार्य मैं कर सकता हूँ, जन्म-मरण; रोग-निरोगदशा मेरी है, रागादि करनेयोग्य हैं—इत्यादि अनित्य और परवस्तु में एकताबुद्धि को अभिमान कहा है; उससे रहित नित्य ज्ञानचेतना में एकताबुद्धिरूप स्वानुभूति की दृढ़ता कहते हैं।

अपना कार्य साधने के लिये बाह्य साधन-संपत्ति की आवश्यकता नहीं है, किंतु नित्य निजशक्ति के बल द्वारा दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है।

अपना दृढ़ संकल्प ही अपना कार्य साधने का मुख्य साधन है।

उपयोगस्वरूप आत्मा

[श्री समयसार गाथा १३-१५ के प्रवचनों से]

जिसे भेदज्ञान हो, उसे धर्म होता है। भेदज्ञान कैसा है, उसका यह वर्णन चलता है। आत्मा उपयोगस्वरूप है; उपयोगस्वरूप आत्मा में क्रोध नहीं। उपयोग और क्रोध दोनों एक नहीं परंतु भिन्न हैं। उपयोग तो आत्मा है परंतु क्रोधादि वास्तव में आत्मा नहीं; इसप्रकार क्रोधादि से भिन्न उपयोगस्वरूप आत्मा का अनुभव करना, श्रद्धा करना, वह भेदज्ञान एवं सम्यग्दर्शन है; वही धर्म है।

ऐसा भेदज्ञान जिसे नहीं, उसे धर्म नहीं। क्रोधादि में उपयोगपना नहीं है, इसलिये उन्हें जड़ कहा है। यदि आत्मा क्रोधमय हो जाये तो उसमें उपयोगपना न रहे, इसलिये वह जीव न रहे, लेकिन उपयोगरहित अजीव बन जाये। आत्मा तो सदा उपयोगस्वरूप है, उसे शरीरादि जड़ से तो भिन्नता है, और क्रोधादि आस्रवों से भी भिन्नता है। क्रोधादिभाव यद्यपि जीव की विकारी अवस्था है, परंतु वह ज्ञानमयभाव नहीं है; ज्ञान की और उन क्रोधादि की एकता नहीं है, दोनों का स्वरूप बिल्कुल भिन्न है।

सर्वज्ञभगवान ने उपयोगस्वरूप आत्मा जैसा देखा और उसे पूर्ण साधा, वैसा ही वाणी द्वारा दर्शाया है। समस्त आत्मा उपयोगस्वरूप है; उपयोग के साथ जीव को त्रिकाल एकता है, क्योंकि उपयोग उसका स्वरूप ही है; परंतु उपयोग की भाँति अन्य जड़ पदार्थों के साथ यदि आत्मा एकता करे तो आत्मा स्वयं जड़ हो जाये, जीव का जीवपना न रहे अर्थात् वह अजीव हो जाये; फिर तो 'यह जीव और यह अजीव' ऐसा कोई भेद जगत के पदार्थों में न रहे। जीव-अजीव की प्रतीति बिना धर्म नहीं होता।

सर्वज्ञभगवान ने अतीन्द्रियज्ञान द्वारा समस्त विश्व प्रत्यक्ष देखा है, उसमें आत्मा को सदा उपयोगस्वरूप ही देखा है। उपयोग में और क्रोधादिभावों में एकमेकता या मिलावट नहीं है। जिसप्रकार क्रोध, वह उपयोग नहीं है, वैसे ही जड़कर्म या शरीरादि भी उपयोग नहीं है; वे उपयोग से शून्य ऐसे अचेतन हैं। अहा, परभावों से भिन्न ऐसा अपना आत्मा अंतर में उपयोगस्वरूप से अनुभव में लो। 'आत्म-उपयोग' द्वारा वह अनुभव में आता है, राग द्वारा अनुभव में नहीं आता।

जीव को बाहर बातें अच्छी लगती हैं और उन्हीं में रागादि करके रुक जाता है। अंतर में राग से रहित उपयोगस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है, उसे लक्ष में नहीं लेता। उसका प्रेम नहीं करता। भाई, तुझे बाहर की बातें अच्छी लगती हैं, उसके बदले अपने उपयोगस्वरूप आत्मा में रुचि कर। आनंदकन्द आत्मा में विकल्प का अंश भी नहीं, एक शुभ विकल्प को भी (भले ही वह विकल्प वीतरागभाव की ओर का हो) जो आत्मा का स्वरूप मानते हैं और उससे मोक्षमार्ग का लाभ होगा, ऐसा जो मानते हैं, उन्होंने उपयोगस्वरूप आत्मा की पहिचाना ही नहीं और रागादि को ही आत्मा माना है; वास्तव में वे जड़ को आत्मा मानते हैं, क्योंकि राग चैतन्य की जाति का नहीं है। ज्ञान से विरुद्ध जितने भाव हैं, उन्हें जो आत्म-उपयोग के साथ मिलाता है, उसे जड़-चेतन की भिन्नता का भान नहीं है अर्थात् उसे भेदज्ञान नहीं है।

जीव सदा उपयोगस्वरूप है। उस उपयोग का उपयोगरूप से परिणमित होना और रागरूप परिणमित नहीं होना, उसका नाम धर्म है। धर्मी जीव अपने उपयोग के साथ राग के कण को भी नहीं मिलाता। एक ओर उपयोगस्वरूप आतमराम और सामने समस्त रागादि भाव एवं जड़ पदार्थ, वे सब उपयोग से भिन्न; ऐसा अत्यंत भेदज्ञान करते हो बंधभाव के किसी भी अंश में जीव की एकत्वबुद्धि-हितबुद्धि या प्रेमबुद्धि नहीं रहती; मात्र अपने उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा का ही एकत्वबुद्धि से-हितबुद्धि से-प्रेमबुद्धि से अनुभव करता है। ऐसा आत्म-अनुभव, वह मोक्षमार्ग है।

भाई, तू अपने उपयोगस्वरूप आत्मा को नहीं पहिचानता और बाह्य से या राग से धर्म लेना चाहता है। यह तो तेरा पशु जैसा अविवेक है। जिसप्रकार पशु घास और मिठाई को एकमेक करके खाता है, उसीप्रकार तू अज्ञानवश घासरूप रागादिभाव और मिठाईरूप उपयोग को एकमेक करके अशुद्धता का स्वाद लेता है, वही अविवेक है। भाई, अंतर में राग से पृथक् अपने चैतन्य-स्वाद को पहिचान। उसके अनुभव से तुझे रागादि परभावों से भिन्न आत्मा की प्रतीति होगी।

जड़ और चेतन की जगत में कभी एकता नहीं हो सकती। यदि चेतन स्वयं जड़ हो जाये, अथवा जड़ स्वयं चेतन हो जाये तो जगत में कोई पदार्थ ही नहीं रहे। जड़ में सदा जड़पना है और चेतन में सदा चेतनपना है। तदुपरांत यहाँ तो जो रागादि-क्रोधादिभाव हैं, वे भी जीव के उपयोगस्वभाव से भिन्न होने से उन्हें अचेतनपना है।—इसप्रकार अंतर के सूक्ष्म भेदज्ञान की बात है। ऐसा भेदज्ञान, वह मोक्ष का कारण है।●●

आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव की रीति

[श्री समयसार गाथा १४४ का प्रवचन (२)]

पात्र जीव आत्मा के ज्ञानस्वभाव का निर्णय करता है—यह बात गतांक में आप पढ़ चुके हैं। इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट होने से पूर्व जिसने श्रुतज्ञान के बल से आत्मा के ज्ञानस्वभाव को अव्यक्तरूप से लक्ष में लिया है, वह अब प्रगटरूप से लक्ष में लेता है—अनुभव करता है—आत्मसाक्षात्कार अर्थात् सम्यग्दर्शन करता है—किसप्रकार ? सो यहाँ बतलाते हैं।

'.....पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण जो इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ, उन्हें मर्यादा में लाकर जिसने मतिज्ञानतत्त्व को आत्मसन्मुख किया है....' अप्रगटरूप निर्णय हुआ था, वह अब प्रगटरूप कार्य लाता है; जो निर्णय किया था, उसका फल प्रगट होता है।

इस ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय जगत के सर्व आत्मा कर सकते हैं। निश्चय से सर्व आत्मा परिपूर्ण भगवान ही हैं; इसलिये सब अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर सकने में समर्थ हैं। जो अपने आत्मा का हित करना चाहे, वह अवश्य कर सकता है, परंतु जीव ने अनादि से अपनी दरकार ही नहीं की। भाई ! तू स्वयं कौन वस्तु है—उसे जाने बिना तू करेगा क्या ? प्रथम तो इस ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिये। वह निर्णय होने पर अव्यक्तरूप से आत्मा का लक्ष आया; पश्चात् परलक्ष और विकल्प छोड़कर स्वलक्ष से प्रगट अनुभव कैसे करना, वह बतलाते हैं।

इन्द्रिय और मन से जो परलक्ष होता है, उसे बदलकर मतिज्ञान को स्व में एकाग्र करने से आत्मा प्रत्यक्ष प्रकाशित होता है, अर्थात् आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा का प्रगटरूप अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

धर्म के लिये प्रथम क्या करना ?

यह कर्ता-कर्म अधिकार की अंतिम गाथा है; इस गाथा में जिज्ञासु को मार्ग बतलाया है। लोग कहते हैं कि—आत्मा समझ में न आये तो पुण्य के शुभभाव करें या नहीं ? उन्हें उत्तर है कि—प्रथम स्वभाव को समझना ही धर्म है। धर्म द्वारा ही संसार का अंत आता है। शुभभाव से धर्म होता नहीं और धर्म के बिना संसार का अंत आता नहीं। धर्म तो अपना स्वभाव है; इसलिये प्रथम स्वभाव को समझना चाहिये। शुभभाव होते अवश्य हैं, परंतु वह कर्तव्य नहीं है। शुभ-अशुभभाव तो जीव अनादि काल से करता आ रहा है, वह कोई धर्म का उपाय नहीं है; परंतु उस शुभाशुभ से रहित ज्ञानस्वभावी आत्मा की प्रतीति करना ही धर्म है।

प्रश्नः—स्वभाव समझ में न आये तो क्या करना ?—समझने में समय लगे तो क्या करना ?

उत्तरः—प्रथम तो जो रुचिपूर्वक प्रयत्न करे, उसकी समझ में यह बात न आये—ऐसा हो ही नहीं सकता। समझने में समय लगे, वहाँ समझने के लक्ष से अशुभभाव दूर होकर शुभभाव तो सहज ही होता है; परंतु शुभभाव से धर्म नहीं होता, ऐसा जानना। जब तक किसी भी जड़ वस्तु की तथा राग की क्रिया को जीव अपनी मानता है, तब तक वह सत्य समझने के मार्ग पर नहीं है !

सुख का मार्ग सच्ची समझ; विकार का फल जड़ का संयोग

यदि जीव को आत्मा की सच्ची रुचि हो तो वह समझने का मार्ग ग्रहण किये बिना न रहे। सत्य की आवश्यकता हो, सुख की चाह हो तो यही मार्ग है। चारित्रदशा में भले ही समय लगे, परंतु मार्ग तो सत्य समझने का ही लेना चाहिये। सत्य को समझने का मार्ग ग्रहण करे तो सत्य अवश्य ही समझ में आ जायेगा। यदि ऐसे मनुष्यभव में तथा सत्समागम का योग प्राप्त होने पर भी सत्य नहीं समझा तो फिर सत्य समझने का ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है। मैं कौन हूँ—उसकी जिसे खबर नहीं है, और यहीं स्वरूप से च्युत होकर जा रहा है, वह परभव में जाकर क्या करेगा ? स्वरूप को जाने बिना शांति कहाँ से लायेगा। आत्मा की प्रतीति बिना कदाचित् शुभभाव किये हों तो उस शुभ के फल में जड़ का संयोग प्राप्त होगा, शुभ के फल में कहीं आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी। आत्मा की शांति तो आत्मा में है, परंतु उसकी तो कभी दरकार नहीं की है।

असाध्य कौन और शुद्धात्मा कौन ?

जो जीव यहीं जड़ के साथ एकत्वबुद्धि करके जड़ जैसा हो गया है, अपने को भूलकर संयोगदृष्टि से कर रहा है; असाध्यरूप से वर्तता है अर्थात् चैतन्यस्वरूप का भान नहीं है, वह जीते जी असाध्य है। भले ही शरीर हले-चले-बोले, परंतु वह तो जड़ की क्रिया है। उसका स्वामी हुआ परंतु अंतर में साध्य जो ज्ञानस्वरूप, उसकी जिसे खबर नहीं है, वह 'असाध्य' है। वस्तु का स्वभाव यथार्थरूप से—सम्यग्दर्शनपूर्वक के ज्ञान से न समझे तो जीव को स्वरूप का किंचित् लाभ नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा स्वरूप की पहिचान एवं अनुभव किया, उसी को 'शुद्ध आत्मा' कहा जाता है, वही समयसार है और वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ' ऐसा विकल्प छूटकर मात्र आत्मानुभव हो, तभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं आत्मा से भिन्न नहीं हैं, वे शुद्धात्मारूप ही हैं।

जिसे सत्य की रुचि एवं इच्छा है, ऐसे जिज्ञासु जीव के निकट कोई असत्य का निरूपण करे तो वह उसे स्वीकार नहीं करेगा; राग द्वारा स्वभाव का अनुभव होगा—ऐसी बात उसे जमेगी नहीं। जिसे सत्स्वभाव प्राप्त करने की इच्छा है, वह स्वभाव से विरुद्धभावों का स्वीकार नहीं करता, उन्हें अपना नहीं मानता। वस्तु का स्वरूप शुद्ध है, उसका निर्णय किया और राग से पृथक् होकर ज्ञान स्वसन्मुख होने से जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ, वही समयसार है और वही धर्म है। ऐसा धर्म किसप्रकार होता है; धर्म करने के लिये प्रथम क्या करना? तत्संबंधी यह कथन चल रहा है।

धर्म की रुचिवान जीव कैसे होते हैं ?

धर्म के लिये प्रथम श्रुतज्ञान का अवलंबन लेकर श्रवण-मनन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना कि—मैं एक ज्ञानस्वभाव हूँ, मेरे ज्ञानस्वभाव में ज्ञान के अतिरिक्त कुछ करने या छोड़ने का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार सत् समझने में जो काल व्यतीत होता है, वह अनंत काल में नहीं किया हुआ ऐसा अपूर्व अभ्यास है। जीव को सत् की रुचि हो अर्थात् वैराग्य जागृत हो, तब समस्त संसार की रुचि उड़ जाती है; चौरासी के अवतार का त्रास लगने लगता है कि—'अरे! यह त्रास कैसा? यह दुःख कब तक? जिसमें स्वरूप की प्रतीति नहीं और प्रतिक्षण पराश्रयभाव में लीनता है, यह कोई मनुष्य जीवन है? तिर्यंचादि के दुःख की बात तो ठीक; परंतु इस मनुष्यभव में भी ऐसा जीवन? मृत्युकाल में स्वरूप की प्रतीति के बिना

असाध्य होकर मरना ? नहीं; अब तो इससे छूटने का उपाय करके शीघ्र ही इस दुःख से आत्मा को मुक्त करूँगा।—इसप्रकार संसार से त्रसित होकर स्वरूप समझने की रुचि होती है। वस्तु को समझने का जो उद्यम, वह भी ज्ञान की क्रिया है, सत् का मार्ग है।

जिज्ञासुओं को प्रथम ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिये; मैं एक ज्ञाता हूँ, ज्ञान मेरा स्वरूप है, वह जाननेवाला है; पुण्य-पाप कोई मेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं है; पुण्य-पाप के भाव या स्वर्ग-नरकादि कोई गति मेरा स्वभाव नहीं है;—इसप्रकार श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करना, वही धर्म का प्रथम उपाय है। श्रुत के अवलंबन से ज्ञानस्वभाव का जो निर्णय किया, उसका फल, उस निर्णय के अनुसार अनुभव करना वह है। आत्मा का निर्णय वह 'कारण' और आत्मा का अनुभव वह कार्य—इसप्रकार यहाँ लिया है; इसलिये जो निर्णय करे, उसे अनुभव होता ही है, ऐसा कहा है। कारण के सेवन-अनुसार कार्य प्रगटता ही है।

अंतर अनुभव का उपाय अर्थात् ज्ञान की क्रिया

आत्मा का निर्णय करने के पश्चात् उसका प्रगट अनुभव किसप्रकार करना, वह बतलाते हैं—निर्णय अनुसार ज्ञान का आचरण, वह अनुभव है। प्रगट अनुभव में शांति का वेदन लाने के लिये अर्थात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्ध के लिये परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण को छोड़ देना अर्थात् इन्द्रिय एवं मन का अवलंबन छोड़कर ज्ञान को स्वोन्मुख करना। देव-शास्त्र-गुरु आदि परपदार्थों की ओर का लक्ष या मन के अवलंबन से प्रवर्तमान बुद्धि को मर्यादा में लाकर स्वोन्मुख करना, वह अंतरअनुभव का पंथ है और वही सहज शीतलस्वरूप अनाकुल स्वभाव में प्रविष्ट होने का द्वार है।

सर्वप्रथम, मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ—ऐसा बराबर निर्णय करके पश्चात् उसका प्रगट अनुभव करने के लिये, परोन्मुख होते हुए मति और श्रुतज्ञान को स्वोन्मुख एकाग्र करना... वास्तव में तो जहाँ ज्ञानस्वभाव को लक्षगत करने जाये, वहाँ मति-श्रुत का उपयोग अंतरोन्मुख हो ही जाता है; इसलिये जो ज्ञान विकल्प में अटकता था, वह वहाँ से छूटकर स्वभाव में आता है। ज्ञान आत्मसन्मुख होने से स्वभाव का निर्विकल्प अनुभव होता है।

ज्ञान में भव नहीं हैं

जिसने मन के अवलंबन से प्रवर्तमान ज्ञान को मन से छुड़ाकर स्वोन्मुख किया है अर्थात् मतिज्ञान परोन्मुख था, उसे मर्यादा में लाकर आत्मसन्मुख किया है, उसके ज्ञान में अनंत

संसार का नास्तिभाव और ज्ञानस्वभाव का अस्तिभाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करना उसमें अनंत पुरुषार्थ है। स्वभाव में भव नहीं है, इसलिये जिसे नित्य चैतन्यस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ उदित हुआ, उसे भव की शंका नहीं रहती। जहाँ भव की शंका है, वहाँ सच्चा ज्ञान नहीं है और जहाँ सच्चा ज्ञान है, वहाँ भव की शंका नहीं;—इसप्रकार 'ज्ञान' और 'भव' की एक-दूसरे में नास्ति है।

पुरुषार्थ द्वारा सत्समागम से अकेले ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय किया; पश्चात् 'मैं अबंध हूँ, बंधयुक्त हूँ; शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ; त्रैकालिक हूँ या क्षणिक हूँ'—ऐसी जो वृत्तियाँ उठती हैं, उनमें भी अभी आत्मशांति नहीं है, वे वृत्तियाँ आकुलतामय हैं; आत्मशांति की विरोधिनी हैं। नयपक्षों के अवलंबन से होनेवाले मन संबंधी अनेक प्रकार के विकल्प, उन्हें भी मर्यादा में लाकर अर्थात् उन विकल्पों से भी ज्ञान को भिन्न करके श्रुतज्ञान को भी आत्मसन्मुख करने से शुद्धात्मा का अनुभव होता है; इसप्रकार मति और श्रुतज्ञान को आत्मसन्मुख करना, वही सम्यग्दर्शन की रीति है। इन्द्रियाँ तथा मन के अवलंबन से मतिज्ञान परलक्ष से प्रवर्तमान होता था, और मन के अवलंबन से श्रुतज्ञान अनेक प्रकार के नयपक्षों के विकल्पों में अटकता था उसे—अर्थात् बाह्य में भटकते हुए मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान को मर्यादा लाकर अंतरस्वभावोन्मुख करके, एक ज्ञानस्वभाव को ग्रहण करके (उपयोग में लेकर) निर्विकल्प होकर तत्काल निजरस से ही प्रगट होनेवाले शुद्धात्मा का अनुभव करना; वह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

अनुभव में आता शुद्धात्मा कैसा है ?

शुद्धस्वभाव आदि-मध्य-अंतरहित त्रिकाल एकरूप है, उसमें बंध-मोक्ष नहीं है, वह अनाकुलस्वरूप है, 'मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ'—ऐसे विकल्पों से होनेवाली जो आकुलता, उससे रहित है। लक्ष में से पुण्य-पाप का आश्रय छूटने पर अकेला आत्मा ही अनुभव में आता है; मात्र एक आत्मा में पुण्य-पाप के कोई भाव नहीं हूँ। मानों समस्त विश्व पर तैरता हो अर्थात् विभावों से पृथक् हो गया हो, वैसा चैतन्यस्वभाव पृथक् अखंड प्रतिभासमय अनुभव में आता है। आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप के ऊपर तैरता है, इसलिये उसमें एकाकार नहीं हो जाता, उसरूप नहीं हो जाता परंतु उससे भिन्न का भिन्न रहता है। पुनश्च, अनंत है अर्थात् जिसके स्वभाव का कभी अंत नहीं है; पुण्य-पाप तो अंतवाले हैं, ज्ञानस्वरूप अनंत है और विज्ञानघन

है, अकेले ज्ञान का ही पिंड है। अकेले ज्ञान पिंड में राग-द्वेष किंचित् नहीं है। अज्ञानभाव से राग का कर्ता था परंतु स्वभाव से राग का कर्ता नहीं है। अखंड आत्मस्वभाव का निर्णय करके, पश्चात् समस्त विभावों का लक्ष छोड़कर जब यह आत्मा विज्ञानघन (-जिसमें कोई विकल्प प्रवेश न कर सकें, ऐसे ज्ञान के निबिड पिंडरूप) परमात्मस्वरूप समयसार का अनुभव करता है, तब वह स्वयं ही सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञानरूप है।

निश्चय और व्यवहार

इसमें निश्चय-व्यवहार दोनों आ जाते हैं। अखंड विज्ञानघनस्वरूप ज्ञानस्वभावी आत्मा, वह निश्चय है और परिणति को स्वभावसन्मुख करना, वह शुद्धव्यवहार है। मति-श्रुतज्ञान को स्वोन्मुख करने के पुरुषार्थरूपी जो पर्याय, वह व्यवहार है, अखंड आत्मस्वभाव वह निश्चय है। जब मति-श्रुतज्ञान को स्वोन्मुख किया और आत्मा का अनुभव किया, उसी समय आत्मा सम्यक्रूप दिखायी देता है—श्रद्धा में आता है। यह सम्यग्दर्शन प्रगट होने के समय की बात की है।

सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ?

सम्यग्दर्शन होने पर स्वरस के अपूर्व आनंद का अनुभव होता है; आत्मा का सहज आनंद प्रगट होता है, आत्मिक आनंद उछलता है; अंतर में आत्मशक्ति का वेदन होता है; आत्मा का सुख अंतर में है, वह प्रगट अनुभव में आता है; इस अपूर्व सुख का मार्ग सम्यग्दर्शन ही है। 'मैं भगवान आत्मा समयसार हूँ'—ऐसा जो निर्विकल्प शांतरस अनुभव में आता है, वही समयसार है और वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों को अभेद लिया है। आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनस्वरूप है।

ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास

सत्श्रुत के परिचय से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के पश्चात् मति-श्रुतज्ञान को उस ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करना, निर्विकल्प होने का पुरुषार्थ करना, यही सम्यक्त्व का मार्ग है। इसमें तो बारंबार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास ही करना है, बाह्य में कुछ करना नहीं आता। ज्ञान में स्वभाव का अभ्यास करते-करते जहाँ एकाग्र हुआ, वहाँ उसी समय सम्यग्ज्ञानरूप से यह आत्मा प्रगट होता है। यही जन्म-मरण को दूर करने का उपाय है। आत्मा ज्ञातास्वभाव है, उसमें अन्य कुछ करने का स्वभाव नहीं है;—ऐसा निर्णय

निर्विकल्प अनुभव के लिये करना चाहिये। इसके सिवा जो अन्य कुछ मानता है, उसे तो व्यवहार से भी आत्मा का निर्णय नहीं है। बाह्य में अन्य लाख प्रयत्नों से भी ज्ञान नहीं होता; मात्र ज्ञानस्वभाव को पकड़ने से ही ज्ञान होता है। सबमें से एक ज्ञानस्वभावी आत्मा को पृथक् करे, पश्चात् उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये मति-श्रुतज्ञान की बाह्योन्मुख होती पर्यायों को स्वोन्मुख करने से तत्काल निर्विकल्प निजस्वभावरस के आनंद का अनुभव होता है। अंतर में दृष्टि करके जिस काल परमात्मस्वरूप का दर्शन करता है, उसी काल आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनरूप से प्रगट होता है। जिसे एकबार आत्मा की ऐसी प्रतीति हो गई है, उसे बाद में कोई विकल्प भी आये, परंतु जो आत्मदर्शन हो गया है, उसकी प्रतीति है, अर्थात् आत्मानुभव होने पर कोई विकल्प उठे तो उससे सम्यग्दर्शन चला नहीं जाता। सम्यग्दर्शन कोई वेष नहीं है, परंतु स्वानुभवरूप परिणमित आत्मा ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव करने के पश्चात् भी शुभभाव आते अवश्य हैं परंतु आत्महित तो ज्ञानस्वभाव का अनुभव करने से ही होता है। ज्यों-ज्यों ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों शुभाशुभभाव भी दूर होते जाते हैं। बाह्य लक्ष से जो वेदन होता है, वह सब दुःखरूप है; अंतर में शांतरस की मूर्ति आत्मा है; उसके लक्ष से जो वेदन होता है, वही सुख है! सम्यग्दर्शन, वह आत्मा का गुण है। गुण-गुणी से भिन्न नहीं होता। एक अखंड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव वही, सम्यग्दर्शन है तथा वही आत्मा है।

भव्यों को संबोधन

हे भव्य जीवो! आत्मकल्याण के लिये तुम यह उपाय करो। अन्य समस्त उपायों को छोड़कर यही करना है। हित का साधन बाह्य में लेशमात्र नहीं। मोक्षार्थी को सत्समागम द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करना चाहिये। यथार्थ तत्त्व की श्रद्धा बिना अंतर में भक्तिरस की ध्वनि नहीं जमती। प्रथम अंतर से सत् की स्वीकृति आये बिना सत् स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, और सत्स्वरूप के ज्ञान बिना भवबंधन की बेड़ी नहीं टूटती। भवबंधन के अंत बिना जीवन किस काम का? भव के अंत की श्रद्धा बिना कदाचित् पुण्य भी करे तो उसका फल राजपद या देवपद होगा, उसमें आत्मा को क्या? आत्मप्रतीतिरहित किया हुआ समस्त पुण्य और देवपद भी धूल के समान है। उसमें आत्मशांति का अंश भी नहीं। इसलिये सर्वप्रथम श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभाव का दृढ़ निश्चय करने से प्रतीति में भव की शंका नहीं रहती और जितनी ज्ञान की

दृढ़ता बढ़ती है, उतनी ही शांति में वृद्धि होती है।

प्रभु! तू कैसा है, तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है, उसको तूने जाना ही नहीं। अपनी प्रभुता की प्रतीति के बिना तू बाह्य में दूसरों का गुणगान करता रहे तो उसमें तुझे अपनी प्रभुता का लाभ नहीं होगा। तूने दूसरों का गुण-गान किया परंतु अपना गुण-गान नहीं किया अर्थात् अपने स्वभाव की महत्ता को नहीं जाना तो उसमें तुझे क्या लाभ? भगवान की मूर्ति के समक्ष कहता है कि—हे नाथ! हे भगवान! आप अनंतज्ञान के स्वामी हो... वहाँ सामने से भी यही प्रतिध्वनि आती है कि 'हे नाथ, हे भगवान! आप अनंतज्ञान के स्वामी हो...' अर्थात् जैसा परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही तेरा स्वरूप है, उसे तू पहिचान तो तुझे स्वयं की प्रभुता का लाभ होगा।

शुद्धात्मस्वरूप का वेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो या साक्षात्कार कहो—कुछ भी कहो, सब यह आत्मा ही है; अधिक क्या कहा जाये? जो कुछ भी है, यह एक आत्मा ही है, उसी को भिन्न-भिन्न नामों से कहा जाता है। केवली पद, सिद्धपद अथवा साधुपद इन सबका एक आत्मा में ही समावेश होता है। आराधना, मोक्षमार्ग आदि का समावेश भी शुद्ध आत्मा में होता है।—ऐसे आत्मस्वरूप की अनुभूति ही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्व धर्मों का मूल है।

स्वाधीनता से सुशोभित हो, वह सेठ है।

'सेठ' कौन है?

सम्यग्दृष्टि वह सच्चा सेठ (अर्थात् श्रेष्ठ) है; क्योंकि श्रेष्ठ ऐसे अपने आत्मस्वरूप को वह जानता है, और दूसरों से कुछ भी लेना नहीं चाहता, इसलिये वह सेठ है, दूसरों से मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, मैं स्वयं ही सर्वसाधन सम्पन्न हूँ—ऐसी स्वाश्रित बुद्धि के कारण वह सेठरूप से शोभायमान होता है।

'भिखारी' कौन है?

मिथ्यादृष्टि वह भिखारी है; क्योंकि अपने श्रेष्ठ ऐसे आत्मस्वरूप को तो वह नहीं जानता और दूसरों से भीख माँगता है—इसलिये वह भिखारी है। अन्य मुझे सुख देंगे—ऐसे पराश्रित बुद्धि के कारण वह भिखारी है, हीन है, इसलिये वह शोभा नहीं देता! शोभा तो स्वाधीनता में है—पराधीनता में शोभा नहीं।

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेखमाला]

लेखांक ५३] [अंक २९३ से आगे

भगवान श्री पूज्यपादस्वामीरचित 'समाधिशतक' पर पूज्य स्वामीजी के अध्यात्मभावना भरपूर वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार।

अज्ञानी की सर्व अवस्थाएँ भ्रमरूप हैं; भले ही वह जागृत हो, शास्त्र पढ़ता हो, तथापि शरीरादि को आत्मा माननेवाला वह जीव अबुध है, सोता ही है, मूर्ख ही है और आत्मा को शरीर से भिन्न माननेवाला ज्ञानी सोते समय या मूर्च्छा समय भी प्रबुद्ध है, स्वरूप में जागृत है, विवेकी है।

यहाँ कोई बहिरात्मा कहता है कि बाल-वृद्ध आदि शरीर की अवस्थारूप आत्मा को माननेवाले अज्ञानी भी शास्त्र पढ़कर तथा निद्रारहित होकर मुक्ति को प्राप्त कर लेंगे। तो आचार्यदेव उसके उत्तर में कहते हैं कि—

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते॥९४॥

भले ही अनेक शास्त्र पढ़ा हो तथा जागृत हो, तथापि 'शरीर ही आत्मा है'—ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह जीव, मुक्ति को प्राप्त नहीं होता; जागृत होने पर भी और शास्त्र पढ़ने पर भी वह बँधता ही है। शास्त्र पढ़ने का सार तो शरीरादि से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानना था; वह तो अज्ञानी जानता नहीं; इसलिये वास्तव में वह शास्त्र पढ़ा ही नहीं। शास्त्रों का जो आशय था, उसे तो वह बिल्कुल नहीं समझा; और जिसने शरीरादि से भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को माना है, वह ज्ञानी सोते समय भी छूटता ही जाता है; सोते समय भी ज्ञान में एकतारूप परिणमन करता है। रागादि में एकतारूप परिणमन नहीं करता, इसलिये क्षण-क्षण उसका छुटकारा ही

होता जाता है; सुप्त एवं उन्मत्त अवस्था के समय भी भेदज्ञान के कारण उसे विशिष्ट कर्मनिर्जरा होती रहती है। देखो, अज्ञानी सर्व अवस्था में बँधता ही है और ज्ञानी सर्व अवस्था में मुक्त ही है। चाहे शास्त्र के शब्द पढ़ना नहीं आता हो, तथापि शरीरादि से भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को जिसने जाना, उसने सर्व शास्त्रों का रहस्य जान लिया है।

'अज्ञानी सोते अच्छे और ज्ञानी जागते अच्छे;' क्योंकि अज्ञानी सोता हो तो सोने में पाप तो न करे—ऐसा कितने ही लोग करते हैं। परंतु यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे भाई! शरीर में आत्मबुद्धि के कारण अज्ञानी जीव सोते समय भी मिथ्यात्व का महापाप बाँध रहे हैं। अज्ञानी जागृत हो, तब पाप बंधता है और सोते समय उसे पाप नहीं होता, यह उसकी भ्रमणा है। उसीप्रकार ज्ञानी को जागृत दशा में धर्म रहता है और सोते समय अनुभव चला जाता है—ऐसा नहीं; सोते समय ज्ञानी को आत्मानुभव का परिणमन होता ही रहता है। सोने की दशा हो या जागृतदशा हो, विवेकी दशा हो या उन्मत्त जैसी दशा हो, तथापि ज्ञानी को सब अवस्था में आत्मज्ञान समान ही है तथा अज्ञानी को सर्व अवस्थाओं में अज्ञान ही वर्त रहा है। जिसमें हितबुद्धि होती है, उसी में उसके श्रद्धा-ज्ञान वर्त रहे हैं। ज्ञानी को आत्मा में ही हितबुद्धि है; इसलिये सोते समय भी उसे आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान वर्तते हैं। तथा अज्ञानी को शरीरादि बाह्य विषयों में सुखबुद्धि है; इसलिये निरंतर शरीरादि में ही उसके श्रद्धा-ज्ञान-लीनता वर्तते हैं। ज्ञानी को ज्ञानस्वरूपी आत्मा की प्रतीति प्रतिक्षण वर्त रही है, वही उसकी मुक्ति का चिह्न है। इसप्रकार भेदज्ञान करके निर्विकल्प प्रतीति और अनुभव की दृढ़ता करना ही मोक्ष का सर्वोत्तम मुख्य उपाय है, और वही उपादेय है।

प्रश्नः—भेदज्ञान का अभ्यास कब तक करना चाहिए?

उत्तरः—ज्ञानानंदस्वरूप में अंतर्मुख होकर निर्विकल्प अनुभव हो, तब तक भेदज्ञान का प्रयत्न करते रहना चाहिये। तथा भेदज्ञान के बाद भी केवलज्ञान हो, तब तक उस ज्ञानानंदस्वरूप में लीनता का बारंबार प्रयत्न करते रहना चाहिये। इसप्रकार आत्मा के ज्ञानानंदस्वरूप को जानकर, उसमें लीनता करना ही मोक्ष का श्रेष्ठ उपाय है;—वह एक ही उपाय है और दूसरा कोई उपाय नहीं है। मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ—ऐसा निर्णय करके उसी का अवधान करना, उसी का ध्यान धरना। इसप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा की श्रद्धा करके उसमें लीनता करने से मुक्ति होती है ॥९४॥

सुप्त आदि अवस्था में भी ज्ञानी को स्वरूप का संवेदन क्यों बना रहता है ? यह बात अब स्पष्ट करते हैं:—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैवे लीयते॥९५॥

'इसी में तेरा हित है' इसप्रकार जिस विषय में जीव को हितबुद्धि होती है, उसी में उसको श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिस विषय में श्रद्धा होती है, उसी में उसके चित्त की लीनता होती है। धर्मात्मा को अपने आत्मस्वरूप में ही हितबुद्धि होने से, निद्रा आदि अवस्थाओं में भी उसकी श्रद्धा वर्तती रहती है। तथा अज्ञानी को बाह्य विषयों में हितबुद्धि होने से, उसे बाह्य विषयों में ही श्रद्धा और लीनता वर्तती रहती है। इसप्रकार जहाँ रुचि, वहाँ श्रद्धा और जहाँ श्रद्धा, वहाँ एकाग्रता होती है।

प्रथम, आत्मा में ऐसी हितबुद्धि होनी चाहिये कि अहो! इस जगत में कहीं मेरा सुख हो तो वह अपने आत्मा में ही है, अपने आत्मा से बाह्य जगत के किसी भी विषय में मेरा सुख नहीं है—ऐसा दृढ़ निर्णय करे तो आत्मा में हितबुद्धि होने से उसकी रुचि होती है। जिसको आत्मा की रुचि है, उसे स्वप्न में भी बाह्यविषयों में सुखबुद्धि नहीं होती। शुद्धचिदानंद आत्मा में ही सुखबुद्धि होने से, स्वप्न में भी उसी का स्मरण रहा करता है। मैं चिदानंद हूँ, मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी प्रतीति का परिणमन धर्मी को निरंतर होता है। तथा अज्ञानी को, 'शरीर वह मैं, राग वह मैं'—ऐसी विपरीत प्रतीति का परिणमन निरंतर होता है। जीव को जिस विषय की रुचि, श्रद्धा और लीनता होती है, उसी का उसे स्मरण होता रहता है। धर्मी को स्वप्न भी ऐसा आता है कि—मैं चरमशरीरी हूँ, मैं भगवान की सभा में बैठा हूँ, मुनि मुझे आशीर्वाद देते हैं—इसप्रकार रुचि और श्रद्धा का पुरुषार्थ, जीव को उस विषय से दूर नहीं होने देता, उसे उसी का स्मरण होता रहता है। वज्रपात हो या देव चलायमान करने आये तो भी धर्मी की श्रद्धा में आत्मा की रट नहीं जाती।—मैं ज्ञानानंदस्वरूप हूँ—ऐसी श्रद्धा की रट उसे निरंतर लगी ही रहती है। इसप्रकार जिसमें हितबुद्धि हो, उसमें श्रद्धा और लीनता होती है, उपयोग बारंबार उस ओर जाता है॥९५॥

❀ ❀ ❀

जीव को जिसमें हितबुद्धि होती है, उसी में श्रद्धा और लीनता रहती है; यह बात ९५वीं

गाथा में कही अब, जिस विषय में जीव को हितबुद्धि नहीं होती, उस विषय में उसे श्रद्धा या लीनता नहीं होती, इसलिये उसमें वह अनासक्त ही होता है—ऐसा कहते हैं !—

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥९६॥

मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ और शरीरादि अचेतन हैं—इसप्रकार जहाँ दोनों की भिन्नता की, वहाँ आत्मा में आत्मबुद्धि होकर शरीर में से आत्मबुद्धि छूट जाती है। जिसमें आत्मबुद्धि न हो, उसमें लीनता भी नहीं होती। जिसे सचमुच अपने से भिन्न माना, उस विषय में सुखबुद्धि नहीं रहती, इसलिये श्रद्धा में भी सुखबुद्धि दूर हो जाती है, और जिसमें श्रद्धा न हो उसमें लीनता भी नहीं होती।—इसप्रकार ज्ञानी धर्मात्मा जगत के सर्व विषयों के प्रति अनासक्त है।

अरे जीव ! एक बार तू निर्णय तो कर कि तेरा हित और तेरा सुख किसमें हैं ?—जिसमें सुखबुद्धि हो, उसकी रुचि और उसमें लीनता होती है। आत्मा का ज्ञानपद बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि—

इसमें सदा प्रीतिवंत हो, इसमें सदा सन्तुष्ट अरु,
इससे ही बन तू तृप्त, तुझको सुख उत्तम होयगा॥

इस ज्ञानस्वरूप आत्मा के सिवा अन्यत्र कहीं तेरा सुख नहीं है; इसलिये उसकी रुचि मत कर, प्रीति मत कर, उसमें एकाग्रता मत कर। सुख तो आत्मा के अनुभव में है। एक समय भी ऐसा लक्ष करे तो उसके परिणामों का वेग पर की ओर से विमुख हो जाये... उसके विषय अति मंद हो जायें; जिसमें सुख नहीं उसका उत्साह क्या ? ज्ञानी बाह्यसामग्री के बीच खड़ा हुआ दिखायी दे, राग भी दिखायी दे, परंतु उसकी रुचि की दिशा बदल गयी है, उसकी श्रद्धा, शुद्धात्मा में ही प्रविष्ट हो गयी है, इसलिये शुद्धात्मा की श्रद्धा या प्रीति छोड़कर उसे किसी प्रकार का राग नहीं आता। जिसने स्वभाव के सुख का स्वाद ले लिया, उसे परभावों में कहीं एकत्वबुद्धि से लीनता नहीं होती। इसप्रकार ज्ञानी की परिणति, पर विषयों से विमुख होकर निजात्मा को ही ध्येय बनती है।

❀ ❀ ❀

अब, ध्येयरूप शुद्धात्मा, जिसमें कि चित्त को लीन करना है, उसकी उपासना दो प्रकार से है—एक भिन्न उपासना और दूसरी अभिन्न उपासना। इन दोनों का स्वरूप दृष्टांतसहित

समझाते हैं; तथा उसका फल भी बतलाते हैं।

धर्मात्मा को जिस विषय में चित्त की लीनता करने जैसी है, उस ध्येय की उपासना दो प्रकार से है—एक तो भिन्न आत्मा—अरहन्त-सिद्धभगवान; तथा दूसरा—अभिन्न ऐसा अपना आत्मा। उसमें भिन्न आत्मा की उपासना का क्या फल है, वह दृष्टांतसहित बतलाते हैं—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥९७॥

यह आत्मा अपने से भिन्न ऐसे अरिहंत तथा सिद्ध परमात्मा की उपासना-आराधना करके उनके जैसा परमात्मा स्वयं हो जाता है—किसप्रकार?—कि दीपक से भिन्न ऐसी जो वर्तिका, वह भी दीपक की आराधना करके (अर्थात् उसकी अत्यंत निकटता प्राप्त करके) स्वयं दीपकस्वरूप हो जाती है; उसीप्रकार अरिहंत तथा सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करने पर, आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है।

श्री समयसार की प्रथम गाथा में भी यह बात कही है। वहाँ '**वंदितु सव्वसिद्धे**' —सर्व सिद्धों को वंदन किया—किसप्रकार?—कि सिद्ध भगवान पूर्ण शुद्धता को प्राप्त हुए हैं; इसलिये वे साध्यस्वरूप जो शुद्ध आत्मा, उसके प्रतिछंद के स्थान में है, इसलिये उन सिद्ध भगवान का ध्यान करके अर्थात् उनके जैसे अपने शुद्धस्वरूप का ध्यान करके यह आत्मा भी उनके जैसे हो जाता है। इसप्रकार भिन्न में से अभिन्न में आ जाये, परलक्ष छोड़कर स्वतत्त्व को लक्ष में ले, तब उसकी भिन्न-उपासना भी सच्ची कही जाती है; तथा वह स्वयं उपास्य जैसा परमात्मा बन जाता है। परंतु मात्र परसन्मुख ही देखता रहे तो उसे भिन्न-उपासना भी सच्ची नहीं होती और उसका सच्चा फल उसे प्राप्त नहीं होता।

नये प्रकाशन

लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका (७वीं आवृत्ति)

क्रमशः ३० हजार पुस्तकें छप चुकी हैं, यह धर्म जागृति का नाम है। शास्त्राधार सहित संक्षेप में प्रयोजनभूत तत्त्वों की जानकारी के लिये आत्म हितेच्छुक को उत्तम मार्गदर्शिका है। सभी जिज्ञासुओं में निःसंकोच वितरण करने योग्य है। (अंग्रेजी में अनुवाद हो गया है।) पृष्ठ १०६ मूल्य २५ पैसा, पोस्टेज अलग।

छहढाला (सचित्र)

यह पुस्तक जैन समाज में पाठय-पुस्तक होने से सर्वत्र छपती ही है। सोनगढ़ में इस पुस्तक की छह आवृत्तियाँ सादा और चार आवृत्तियाँ सचित्र प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रथम आवृत्ति ११५०० छपी थी, जो जिज्ञासुओं में पढ़ने की रुचि का माप है, इसमें आत्महित का स्वरूप गागर में सागर की भाँति भरा हुआ; पूर्वाचार्यों के सर्व उपदेश का सार है, जैन तत्त्वज्ञान सुगम शैली में भरा है। बारंबार स्वाध्याय योग्य है। सर्वज्ञवीतराग जो परम हितोपदेशक हैं, उन्होंने संक्षेप में क्या कहा है ? उसे समझना हो तो छहढाला अवश्य पढ़ें। (पृष्ठ २०८, मूल्य १-०)

द्रव्यसंग्रह (सुबोधिनी टीका, दूसरी आवृत्ति)

पृष्ठ २०८, मूल्य, ०-८५, श्री नेमिचंद सिद्धांतिदेव विरचित यह ग्रंथ प्रायः प्रत्येक जैन पाठशाला में पाठ्य-पुस्तक हैं। तत्त्वज्ञान में रुचि रखनेवालों के लिये यह अति उपयोगी ग्रंथ है। हमारे आदरणीय भूतपूर्व प्रमुख श्री रामजीभाई ने बड़े परिश्रम से शास्त्राभ्यास निचोड़रूप नय विभाग सहित तैयार किया है। यथार्थ समाधान के लिये प्रौढ़ रचना है।

जैन बालपोथी में ११३ प्रश्नोत्तर बढ़ाये गये हैं। यह छपकर तैयार है। मूल्य ०-२५

हिन्दी (मोक्षमार्गप्रकाशक, समयसार नाटक प्रेस में)

सन् १९७१ की जनगणना के समय धर्म के
खाना नं० १० में 'जैन' लिखाकर सही आँकड़े
इकट्ठा करने में सरकार की मदद करें॥

विविध समाचार

सोनगढ़ : तारीख ५-१०-६९ परमोपकारी सत्पुरुष श्री स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं; दसलक्षणपर्व विशेष धर्मोत्साह सहित मनाया गया। मध्यप्रदेश के मेहमानों की संख्या ज्यादा थी। इन दिनों में पद्मनंदी में से दसधर्म तथा समयसार में से (आस्रव-संवर) अधिकार और दोपहर में नियमसारजी में से (शुद्धभाव अधिकार) पर प्रवचन हुये। अब प्रवचनों में समयसार संवर-अधिकार तथा प्रवचनसार में से ४७ नयों का वर्णन चल रहा है।

सोनगढ़ में परमागम-मंदिर का शिलान्यास

भाद्र-सुदी २ भव्य समारोह सहित परमागम-मंदिर का शिलान्यास हुआ। इस मंगल प्रसंग पर मुख्यत: बम्बई-अहमदाबाद आदि से बड़ी संख्या में मुमुक्षुगण आये थे। उत्साह भरे वातावरण में धर्मप्रेमी श्री भगवानजीभाई ने और उनके परिवारजनों ने शिलान्यास किया। यह आगम मंदिर के लिये—बम्बई में रत्नचिन्तामणि-जन्मजयंति के अवसर पर जाहिर किया गया था। स्वामीजी ने जिनवाणी की महिमा समझाकर आत्मा में भावश्रुतरूप जिनागम की प्रतिष्ठा करने की प्रेरणा दी थी—सोनगढ़ में यह आगम मंदिर दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर के समीप ८०×४० फुट का होगा। इसकी दीवारें संगमरमर पर अंकित किये हुए श्री समयसारादि जिनागम से सुशोभित बनेंगी। पूज्य स्वामीजी के द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य के समयसारादि परमागमों की बड़ी महिमा और प्रभावना सारे भारत में हो रही है, उस प्रशस्त कार्य के उपरांत यह आगम मंदिर उस जिनवाणी की विशेष महिमा को प्रगट करेंगे।

कानातलाव में जिनमंदिर का शिलान्यास

भाद्र-सुदी ३ सोनगढ़-बम्बई के मुमुक्षुगण 'कानातलाव' (जो सावरकुंडला से चार मिल दूर किसान भाईयों का छोटा गाँव है) वहाँ शेठ श्री पोपटलालजी के शुभहस्ते से जिनमंदिर का तथा श्री चीमनलाल हिम्मतलाल के हस्त से दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर का शिलान्यास हुआ, कानातलाव (कानेसर-कानेश्वर प्राचीन गाँव है) में दिगम्बर जिनमंदिर बनाने का तीव्र उल्लास वहाँ के किसान मुमुक्षु भाईयों को कई सालों से था और स्वाध्यायमंदिर तथा जिनेन्द्र भगवान की भक्ति-पूजन के लिये लालायित थे। इस मंगल कार्य के लिये वहाँ के मुमुक्षुओं को बधाई। (—सम्पादक)

हिन्दी साहित्य प्रकाशन संबंधी
आवश्यक विज्ञप्ति

मुमुक्षु भाई-बहिनों को सूचित करते हुए हर्ष होता है कि—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट ने निम्नोक्त पुस्तकें प्रकाशित करने का विचार किया है। इसलिये जिन नगरों में मुमुक्षु मंडल हैं, वे पत्र द्वारा सूचित करें कि उन्हें किस पुस्तक की कितनी प्रतियों की आवश्यकता है। मुमुक्षु मंडलों की ओर से पर्याप्त संख्या में आर्डर आने पर पुस्तकें छपाने की व्यवस्था की जायेगी, इसलिये शीघ्र हमें सूचित करें।

मुमुक्षु मंडलों के अध्यक्ष महानुभावों से निवेदन है कि वे अपने मंडल के लिये आवश्यक पुस्तकों की बिल्कुल सही संख्या सूचित करें। पुस्तकों के लिये कोई अग्रिम राशि भेजने की आवश्यकता नहीं है; परंतु इस बात की गारंटी दें कि आपका मंडल इतनी प्रतियाँ अवश्य खरीद लेगा।

जिन नगरों में मुमुक्षु मंडल नहीं हैं, वहाँ के मुमुक्षु व्यक्तिगत रूप से हमें अपनी आवश्यकतानुसार पुस्तकों की संख्या लिखें।

संस्था के नियमानुसार पुस्तकों का मूल्य लागत से कम रखा जायेगा। किस पुस्तक का कितना मूल्य रखा जाये, वह बाद में तय किया जायेगा। अभी निम्नोक्त चार पुस्तकें प्रकाशित करने का विचार है:—

(१) श्री समयसार शास्त्र (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत)

(२) श्री श्रावकधर्म प्रकाश (श्री पद्मनंदि-पंचविंशतिका के देशव्रतोद्योतन अधिकार पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)

(३) श्री अनुभव प्रकाश (श्री दीपचंदजी कासलीवाल कृत)

(४) श्री ज्ञानचक्षु (श्री समयसार गाथा ३२० की जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)

प्रेषक—

साहित्य प्रकाशन समिति

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

विश्वतत्त्वों का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान, एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१	समयसार	(प्रेस में)
२	प्रवचनसार	४.००
३	समयसार कलश-टीका	२.७५
४	पंचास्तिकाय-संग्रह	३.५०
५	नियमसार	४.००
६	समयसार प्रवचन (भाग-४)	४.००
७	मुक्ति का मार्ग	०.५०
८	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१	०.७५
	" " " भाग-२	१.००
	" " " भाग-३	०.५०
९	चिद्विलास	१.५०
१०	जैन बालपोथी	०.२५
११	समयसार पद्यानुवाद	०.२५
१२	द्रव्यसंग्रह	०.८५
१३	छहढाला (सचित्र)	१.००
१४	अध्यात्म-संदेश	१.५०
१५	नियमसार (हरिगीत)	०.२५
१६	धर्म के संबंध में अनेक भूलें	बिना मूल्य
१७	अष्ट-प्रवचन	१.५०
१८	मोक्षमार्गप्रकाशक (ढूंढारी भाषा में) (सस्ती ग्रंथमाला दिल्ली)	२.२५
१९	पण्डित टोडरमलजी स्मारिका	१.००
२०	अपूर्व अवसर-प्रवचन	१.५०
२१	बालबोध पाठमाला, भाग-१	०.४०
२२	बालबोध पाठमाला, भाग-२	०.५०
२३	बालबोध पाठमाला, भाग-३	०.५५
२४	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-१	०.५०
२५	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-२	०.६५
	पाँच पुस्तकों का कुल मूल्य	२.६०
२६	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०.२५
२७	सन्मति संदेश (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक)	०.५०
२८	मंगल तीर्थयात्रा (गुजराती-सचित्र)	६.००

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :

मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)